।। श्रीमते रामानुजाय नमः।।

वैदिक-वाणी

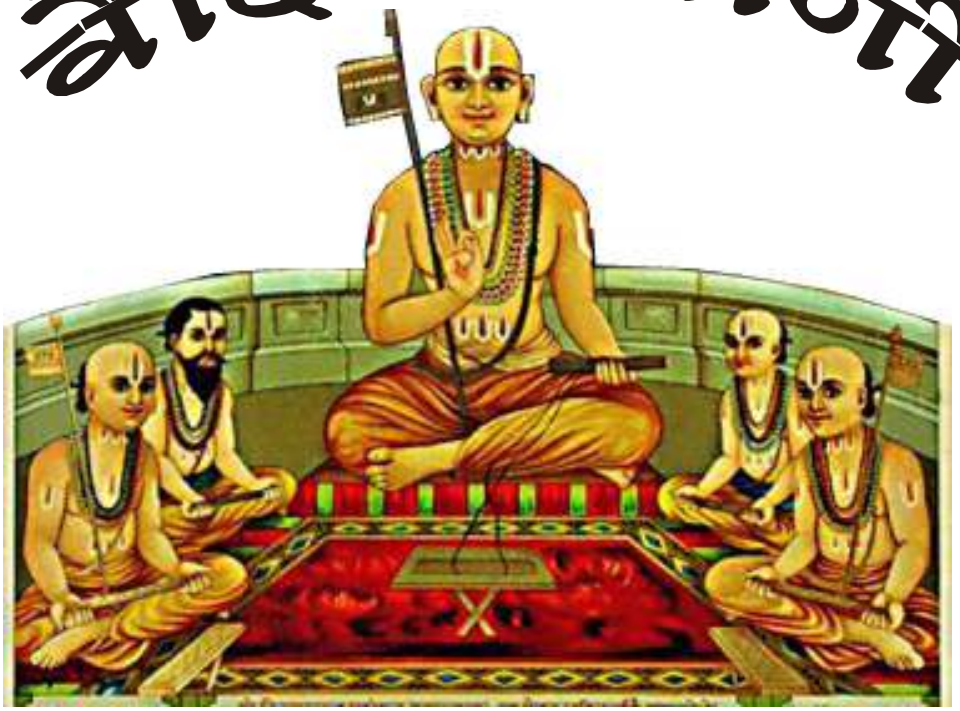

वर्ष- २४ सन्- २०११ ई०	श्री पराङ्कुश संस्कृत संस्कृति संरक्षा परिषद् हुलासगंज, जहानाबाद (बिहार)	अंक- २ रामानुजाब्द त्रैमासिक प्रकाशन

चकर्थ यस्या भवनं भुजान्तरं तव प्रियं धाम यदीय जन्मभूः ।
जगत्समस्तं यदपाङ्गसंश्रयं यदर्थमम्भोधिरमन्थ्यबन्धि च ।।

अर्थात् तुम्हारा वक्षस्थल जिनका भवन है, जिनकी जन्मभूमि क्षीरसागर तुम्हारा प्रिय आवास है, जिनकी कटाक्ष का आश्रय लेकर समग्र जगत् स्थित है, जिन्हें प्राप्त करने के लिये समुद्र का मन्थन तथा बन्धन किया गया था।

विषयानुक्रमणिका

आश्रम परिवार की ओर से प्रकाशित

****

क्रम सं०	विषय	पृ०सं०
१.	वैदिक-वाणी	३
२.	भगवान का चतुर्भुज स्वरूप ही प्रधान है	५
३.	यज्ञों में ज्ञानयज्ञ की श्रेष्ठता	७
४.	जीवन में पुरुषार्थ चतुष्टय पर ध्यान दें	९
५.	जगन्नियन्ता परमात्मा के कार्य वैलक्ष्ण्य	११
६.	गरुड़ ने किया श्रीराम कार्य में सहयोग	१३
७.	आचार्य रूप में गये हनुमान जी लङ्का में	१५
८.	नारियों के लिए पातिव्रत्य धर्म श्रेयस्कर है	१६
९.	उपनिषद् का उपदेश स्मरणीय है	१९
१०.	वैकुण्ठवासी श्रीस्वामी पराङ्कुशाचार्य जी महाराज द्वारा निर्मित प्रार्थनात्मक पद्य	२१
११.	ऊर्ध्वपुण्ड्रतिलक अवश्य धारण करें	२३
१२.	संस्कार	२४
१३.	स्वामी रामानुजाचार्य का सिद्धान्त एवम् भगवत्प्रेम	२६
१४.	गया श्राद्ध अवश्य करें	२८
१५.	लीलाबिहारी की दिव्य लीला से दुर्वासा का मोह भङ्गन	३०
१६.	नारायणबलिश्राद्ध किसके लिए क्यों और कब?	३१
१७.	गुरु-पूर्णिमा	३७
१८.	वास्तु-विचार, मुहूर्त्त विचार	३९
१९.	वेदान्ती स्वामी का वैकुण्ठगमन	४०

●

नियमावली

१. यह पत्रिका त्रैमासिक प्रकाशित होगी।

२. इस पत्रिका का वार्षिक चन्दा (अनुदान) २५ रुपये तथा आजीवन सदस्यता ४०१ रुपये मात्र हैं।

३. इस पत्रिका में भगवत् प्रेम सम्बन्धी, ज्ञान-भक्ति और प्रपत्ति के भावपूर्ण लेख या कवितायें प्रकाशित हो सकेगी।

४. किसी प्रकार का पत्र व्यवहार निम्नलिखित पते पर किया जा सकता है।

५. लेख आदि किसी भी प्रकार के संशोधन आदि का पूर्ण अधिकार सम्पादक के पास सुरक्षित होगा।

—सम्पादक

वैदिक-वाणी

त्रिविध आहार का भाव—

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धि सत्त्वशुद्धौ ध्रुवास्मृतिः ।

(उपनिषद्)

मनुष्य में विवेकशीलता का आधार आहार होता है । विद्या से विवेकशीलता नहीं आती है। आहार का प्रभाव मन, बुद्धि, आत्मा और शरीर–इन चारों पर पड़ता है। हिरण्यकशिपु, रावण आदि में विद्वता की कमी नहीं थी; परन्तु उनका आहार दूषित था। अत एव उन लोगों ने जगत् में देव, मानव आदि का दमन किया। उन्हें दूसरे को महान कष्ट देने में एवं विषयभोग में ही आनन्द मिलता था। अत एव शास्त्रों में आहार पर विचार किया गया है।

श्रीमद्भगवद्गीता में तीन प्रकार के आहार का वर्णन किया गया है–सात्त्विक, राजस और तामस। जिस आहार के सेवन से आयु, सत्वगुण, बल, आरोग्य, आदि प्राप्त हो उसे सात्त्विक आहार कहते हैं। गेहूँ, चावल, दाल, फल, शाक, दूध, घी, मक्खन आदि सात्त्विक आहार हैं।

इन्हें खाने, पीने से आयु, ज्ञान, आरोग्य तथा सुख प्राप्त होते हैं। अधिक खट्टा, अधिक नमकीन, अधिक गर्म, अधिक तीता, अधिक शोषक और अधिक कटु आहार राजस होता है। इन्हें सेवन करने से अधिक लोभ और अधिक भोग की तृष्णा बढ़ती है। तीन घण्टे पूर्व से रखा हुआ। सिद्ध पदार्थ, स्वाभाविक रूप से रसहीन, दुर्गन्धयुक्त, वासी, गुरु और भगवान के उच्छिष्ट को छोड़कर दूसरे का उच्छिष्ट (जूठा) और अमेध्य माँस, मछली, लहसून, प्याज, शराब और ताड़ी–ये सब चीजें अमेध्य होती हैं। उन्हें खाने-पीने से तमोगुण उत्पन्न होता है। तमोगुण का काम है प्रमाद उत्पन्न कर देना (अर्थात् विवेकहीन बना देना)।

अत: ये सब चीजें उत्तम विचार वालों के लिए त्याज्य हैं। तामस आहार का सेवन भूलकर भी नहीं करना चाहिए। उपनिषद् आदि ग्रन्थों में तथा परम मेधावी त्रिकालदर्शी ऋषि-मुनियों ने सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करने के लिए एवं ब्रह्म तक पहुँचने के लिए सर्वप्रथम कारण आहार को ही माना है। ***आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धि सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः ।...***

शुद्ध सात्त्विक आहार से अन्त:करण में निर्मलता आती है। शुद्ध विचार होता है। उससे भगवान के चरण-कमलों में निर्मल भक्ति बनती है। उससे सांसारिक बन्धन सदा के लिए दूर हो जाता है।

सात्त्विक आहार केवल ब्रह्म तक पहुँचाने में ही कारण नहीं है, बल्कि सांसारिक सुख में भी कारण है। सात्त्विक आहार सेवन करने से बुद्धि सात्त्विक होती है। सात्त्विक बुद्धि वाला व्यक्ति परिवार तथा समाज के साथ भी उत्तम व्यवहार करता है। उससे अपने साथ-साथ दूसरों को भी सुख पहुँचाता है। आज घर-घर एवं गाँव-गाँव में अशान्ति फैली हुई है। अपनी सन्तान भी मधुर व्यवहार नहीं करती है। सन्तानें दूषित आहार के कारण ही निजी परिवारों से भी दूषित व्यवहार करती हैं। अपनी सन्तान को दूषित बनाने में माता-पिता आदि परिवार ही कारण है। वे अपनी सन्तानों को तामस पदार्थ खिलाकर उसके विचार और व्यवहार को दूषित बना देते हैं।

जन्म-काल से ही संस्कार बनाया जाता है। मता-पिता समझते हैं कि अभी बालक है, इसे दूषित आहार से हानि नहीं होगी; परन्तु संस्कार जब बाल्यकाल में दूषित हो जाता है तो फिर बनना कठिन होता है। अत: अपनी सन्तानों से यदि मधुर व्यवहार और मधुर कार्य देखना चाहते हैं तो आप

स्वयं पहले सात्त्विक आहार सेवन करें और अपनी सन्तानों को भी सात्त्विक चीजें खाने-पीने के लिए दें।

कुसङ्गति से भी दूषित विचार होता है। आज शिक्षण संस्थाओं में सर्वत्र आध्यात्मिक शिक्षा का अभाव है। केवल भौतिक शिक्षा मिलती है। भौतिकवाद भोग की ओर प्रवृत्त कराता है। यही कारण है कि आधुनिक शिक्षण संस्थाओं में अध्ययन करने वाले सदाचार से दूर हटते जा रहे हैं। किसी प्रकार आध्यात्मिक शिक्षा बालक-बालिकाओं को अवश्य मिलनी चाहिए।

●

चरित्र-शिक्षा की दिशा

बाल्यकाल चरित्र-शिक्षा का समुपयुक्त समय है। बालक का चरित्र-निर्माण बाल्यावस्था से प्रारम्भ हो जाता है। चरित्र की नींव माता-पिता की संस्कृति होती है और उसकी भित्ति-सामग्री सामाजिक परिवेश होता है। माता-पिता की संस्कृति जैसी होती है, बालक का चरित्र भी वैसा ही बनता जाता है। दयाशील, सहृदय, सौहार्द-सम्पन्न व्यक्ति का बालक सङ्कोची, विनयी एवं सुशील बनता है, पर क्रूर-कुटिल एवं कठोर-हदय की सन्तान दु:शील, निर्दयी और निर्मोही निकलती है। अत: यह स्पष्टत: कहा जा सकता है कि यदि आप चाहते हैं कि आपकी सन्तान सुसन्तान बने; सदय, सहृदय और सुसंस्कृत हो तो आप भी वैसे अवदात, अनवद्य गुणों का आत्मावधान कीजिये। सन्तानोत्पत्ति सोद्देश्य होनी चाहिये। हमें भावना करनी चाहिये कि हमारी सन्तान देश-धर्म की सेवा में तन, मन लगाने वाली और प्रभुभक्त हो। तभी हम चरित्रशील पुत्र-पुत्रियाँ उत्पन्न कर अपना तथा देश का कल्याण और विश्व का मङ्गल कर सकते हैं। चारित्र्य से युक्त राम–जैसे पुत्र उत्पन्न करने वाले देश में 'रावण' उत्पन्न न हो, इसके लिये उक्त दिशा का पथिक बनना चाहिये। पर प्रश्न यह होता है कि क्या हम इस दिशा में बढ़ रहे है?

●

अकिञ्चनता

तप:सञ्चय एवेह विशिष्टो धनसञ्चयात्।।
त्यजत: सञ्चयान् सर्वान् यान्ति नाशमुपद्रवा: । न हि सञ्चयवान् कश्चित् सुखी भवति मानद।।
यथा यथा न गृह्णाति ब्राह्मण: सम्प्रतिग्रहम्। तथा तथा हि सन्तोषाद् ब्रह्मतेजो विवर्धते।।
अकिञ्चनत्वं राज्यं च तुलया समतोलयन्। अकिञ्चनत्वमधिकं राज्यादपि जितात्मन:।।

इस लोक में धन-सञ्चय की अपेक्षा तपस्या का सञ्चय ही श्रेष्ठ है। जो सब प्रकार के लौकिक संग्रहों का परित्याग कर देता है, उसके सारे उपद्रव शान्त हो जाते हैं। मानद! संग्रह करने वाला कोई भी मनुष्य सुखी नहीं हो सकता। ब्राह्मण जैसे-जैसे प्रतिग्रह का त्याग करता है, वैसे-ही-वैसे सन्तोष के कारण उसके ब्रह्म-तेज की वृद्धि होती है। एक ओर अङ्किचनता और दूसरी ओर राज्य को तराजू पर रखकर तोला गया तो राज्य की अपेक्षा जितात्मा पुरुष की अकिञ्चनता का पलड़ा भारी रहा।

●

भगवान का चतुर्भुज स्वरूप ही प्रधान है

भगवान का अपना रूप चतुर्भुज ही है। वे श्रीवैकुण्ठ धाम में सदा उसी रूप में विराजते हैं। पूर्व प्रदत्त वरदान का स्मरण कराने के लिए भगवान देवकी-वसुदेव के समक्ष चतुर्भुज रूप में प्रकट हुये थे। देवकी की प्रार्थना पर पुनः द्विभुज हो गये। जब देवकी जी ने भगवान से प्रर्थाना की—

उपसंहर विश्वात्मन्नदो रूपमलौकिकम्।
शङ्खचक्रगदापद्म श्रियाजुष्टं चतुर्भुम्।।

अर्थात् हे विश्वात्मन्! शङ्ख-चक्र-गदा-पद्म से युक्त श्रीलक्ष्मी जी से सुसेवित इस अलौकिक चतुर्भुज स्वरूप को आप हटा लीजिये।

भगवान ने कहा आपलोग पूर्वजन्म में जिस चतुर्भुज स्वरूप भगवान से पुत्र होने के लिए वरदान माँगे थे, वे ही भगवान नारायण तुम्हारे पुत्र बनकर आये हैं। यह विश्वास दिलाने के लिए ही मैं नारायण रूप में तुम्हारे सामने प्रकट हुआ हूँ। अगर मैं चतुर्भुज नारायण रूप में नहीं आता तो कभी भी तुम्हें विश्वास नहीं होता कि मेरा पुत्र नारायण स्वरूप है।

नान्यथामद्भवं ज्ञानं मर्त्यलिङ्गेनजायते।

मानवीय लीला काल में भगवान ने बहुत बार चतुर्भुज रूप धारण किया है। कंस की मृत्यु के बाद भगवान श्रीकृष्ण ने शिशुपाल को चतुर्भुज रूप में ही दर्शन दिया था—

उदारपीवरचतुरबाहुं शङ्खचक्रगदाधरम्।

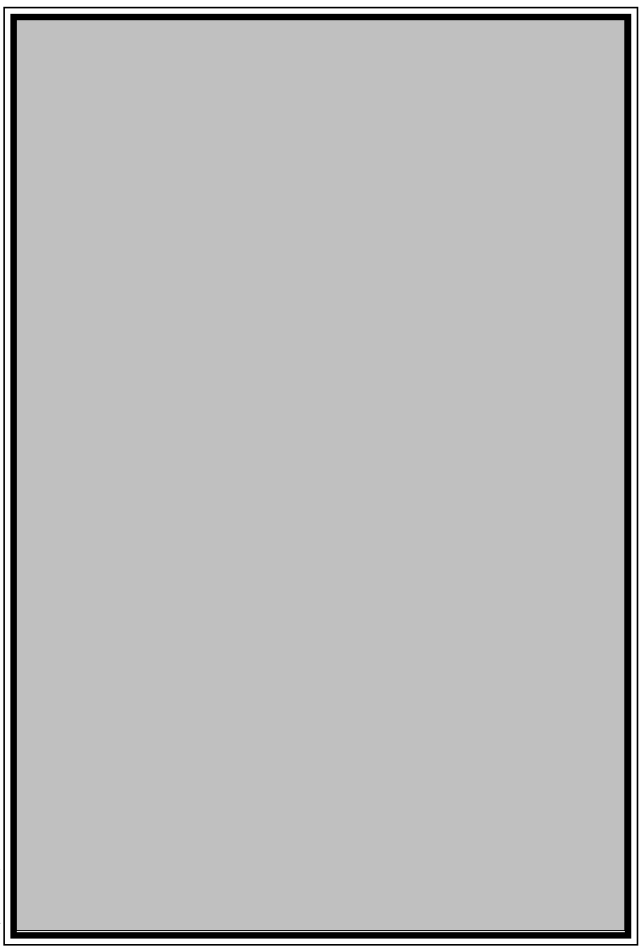

जिस समय भगवान ने अर्जुन को विश्वरूप का दर्शन कराया था। उस समय गीता ग्यारहवाँ अध्याय के २४वें और ३०वें श्लोक के अनुसार अर्जुन ने 'विष्णो' पद से भगवान श्रीकृष्ण को सम्बोधित किया है।

जब भगवान ने विश्वरूप का दर्शन अर्जुन को कराया तब अर्जुन ने भगवान से कहा कि मैं जब आपके अलौकिक विश्वरूप के गुण, प्रभाव और ऐश्वर्य की ओर विचार करता हूँ तब मुझे महान हर्ष होता है। उससे मैं अपने को बड़ा ही

सौभाग्यशाली मानता हूँ; परन्तु जब आपकी भयकारिणी विकराल मूर्ति की ओर मेरी दृष्टि जाती है, तब मेरा मन भय से काँप उठता है और मैं व्याकुल हो जाता हूँ। इसलिए मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप अपने इस रूप को तिरोहित कर लें और प्रसन्न होकर देवरूप का दर्शन करावें— ***'तदेव मे दर्शय देवरूपम्'।***

अर्जुन के कहने का भाव यह है कि भगवान वैकुण्ठ में जिस देवरूप (चतुर्भुज रूप) में रहते हैं और देवकी-वसुदेव के तप प्रभाव से उनके समक्ष जिस चतुर्भुज रूप में प्रादुर्भूत हुए थे उस रूप का दर्शन चाहिए। विश्वरूप से पूर्व अर्जुन के समक्ष भगवान मनुष्य रूप में उपस्थित थे, न कि देव रूप में। अगर अर्जुन में विश्वरूप से पूर्व मनुष्य रूप का दर्शन का मनोरथ होता तो— ***'तदेव मे दर्शय मनुष्य-रूपम्'*** ऐसा अर्जुन कहता। अत: अर्जुन में विश्वरूप दर्शन के बाद देवरूप दर्शन की भावना थी। उसने अवतार काल में भगवान चतुर्भुज थे–ऐसा सुना था और शिशुपाल के समक्ष भगवान को चतुर्भुज ही देखा था। अर्जुन के हृदय में उसी रूप को दर्शन करने की चाह थी। इसलिए अर्जुन ने भगवान से माँगा— ***'तदेव मे दर्शय देवरूपम्'।***

भगवान ने अपने विश्वरूप में मुकुट, गदा, चक्र आदि धारण किए हुए प्रदीप्त अग्नि और सूर्य के समान तेज सम्पन्न विष्णु रूप का ही दर्शन कराया है। भगवान विष्णु का चतुर्भुज रूप देवरूप है। इसलिए अर्जुन उसे ही देखना चाहता था। अर्जुन ने भगवान श्रीकृष्ण से कहा—

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्त्रबाहो भव विश्वमूर्ते ।।

भगवान ने अर्जुन से कहा कि तुम्हारे अतिरिक्त दूसरा कोई भी इस विश्वरूप का दर्शन नहीं कर सकता। अङ्गों सहित वेदों के अध्ययन से, यज्ञ से, तप से, दान से, दर्शपौर्णमासादि कर्म से, कृच्छ्र चान्द्रायणादि तप से विश्वरूप का दर्शन सम्भव नहीं है। जिसमें अनन्य भक्ति होती है उसे ही इस रूप का दर्शन होता है। पुन: भगवान ने अर्जुन से कहा कि मेरे इस भयङ्कर विश्वरूप को देखकर तुम भयभीत तथा विकल हो रहे हो अब भयभीत मत हो। तुम निर्भय होकर जिस रूप को देखना चाहते हो मेरे उस चतुर्भुज सौम्य रूप का दर्शन करो।

भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन की प्रार्थना सुनकर अपना चतुर्भुज रूप दिखलाया। पुन: भगवान ने द्विभुज रूप धारण कर भयभीत अर्जुन को आश्वासन दिया।

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूय: ।
आश्वासयामास च भीतमेवं
भूत्वा पुन: सौम्यवपुर्महात्मा ।।

यद्यपि अनेक रूप-रूपाय के अनुसार जगत् में कार्य के लिए भगवान अनेक रूप धारण करते हैं। भगवान श्रीकृष्ण के नामकरण संस्कार के समय गर्गाचार्य ने नन्द जी से कहा कि ***'बहूनि सन्ति नामानि रूपाणि च सुतस्यते'*** अर्थात् आपके पुत्र के अनेक नाम और रूप होंगे। इसका भाव है कि जगत् में कार्य करने के लिए यह बालक अनेक रूप धारण करेगा। उन्होंने यह भी कहा कि ***'नारायण समोगुणै:'।*** गुण में नारायण के समान होगा; परन्तु ये सब वचन भक्तों के कार्यकाल के लिए है, भगवान का अपना स्वरूप चतुर्भुज ही है।

यज्ञों में ज्ञान-यज्ञ की श्रेष्ठता

यज्ञ दो प्रकार के होते हैं–द्रव्ययज्ञ और ज्ञान-यज्ञ। द्रव्य की प्रधानता जिस यज्ञ में होती है, उसे द्रव्यज्ञ कहा जाता है। जैसे अग्नि में घी आदि पदार्थों का हवन करना, दान देना, भगवान की उपासना में धन लगाना आदि द्रव्ययज्ञ हैं।

द्रव्ययज्ञ तीन प्रकार के होते हैं—सात्त्विक, राजस और तामस।

फल की अभिलाषा से रहित होकर शास्त्रविधि के अनुसार भगवान की उपासना के रूप में जो यज्ञ किया जाता है उसे सात्त्विक द्रव्ययज्ञ कहते हैं।

त्रयो धर्मस्य स्कन्धाः यज्ञो दानं तपश्चेति ।

इस शास्त्र वचन के अनुसार धर्म के तीन प्रधान अङ्ग हैं–यज्ञ, दान और तप। इनमें यज्ञ प्रधान है। भगवान ने गीता अध्याय १८ में ***'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्'*** ऐसा कहा है। अर्थात् यज्ञ, दान और तप–ये तीनों मानवों को पवित्र बनाने वाले हैं। इनमें यज्ञ की ही प्रधानता दी गयी है। फलासक्ति त्यागपूर्वक भगवान की उपासना रूप में किया गया यज्ञ मनुष्यों के अन्तःकरण को निर्मल बनाता है। अग्नि भगवान का मुख है। इसलिए उसमें किया गया हवन भगवान को प्राप्त होता है। स्वर्ग, धन, पुत्र आदि के उद्देश्य से तथा धार्मिकता की प्रसिद्धि के लिए किया गया यज्ञ राजस होता है।

राजागण प्रायः स्वर्ग पुत्र आदि के उद्देश्य से ही यज्ञ करते थे। वे सब यज्ञ राजस होते हैं। तामस यज्ञ का स्वरूप भगवान ने कहा है—

विधिहीनमसृष्टान्तं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ।।

अर्थात् विधिहीन, मन्त्रहीन, दक्षिणा रहित, श्रद्धारहित और अन्याय से उपार्जित अन्न से जो यज्ञ होता है उसे तामस यज्ञ कहते हैं। सदाचार युक्त तथा शास्त्रविधि को जानने वाले विद्वानों के द्वारा कहे गये नियमों के अनुसार जो यज्ञ होता है, वह विधिपूर्वक कहा जाता है और जो उसके विपरीत मनमाने रूप से यज्ञ किया जाता है, वह विधिहीन यज्ञ होता है। जिसमें शास्त्रविधि के अनुसार वस्तुओं का प्रयोग नहीं किया जाता है वह तामस यज्ञ होता है। जिसमें न्यायपूर्वक अन्नादि का संग्रह नहीं किया गया है वह यज्ञ तामस होता है।

जिसमें मन्त्र का प्रयोग नहीं हो या ठीक से मन्त्र नहीं उच्चारण किया जाय वह यज्ञ मन्त्र हीन होने से तामस होता है। जिसमें जितनी दक्षिणा देने का विधान हो उतनी दक्षिणा न देने पर वह यज्ञ तामस होता है। जो यज्ञ श्रद्धापूर्वक नहीं किया जाता है उसे श्रद्धारहित कहते हैं, वह तामस यज्ञ होता है।

सात्त्विक द्रव्य यज्ञ से ये लाभ होते हैं—अग्निकुण्ड में घी, तिल आदि से जो हवन करते हैं उनमें प्रथम स्थूल भाग राख बन जाता है। दूसरा भाग सुगन्धित धूआँ बनकर वायुमण्डल को पवित्र बनाकर रोगोत्पादक कीटाणुओं से बचाता है। जो उस यज्ञ में घी, तिल आदि द्रव्यों का सहयोग करते हैं, उन्हें यज्ञ से पुण्य प्राप्त होता है, उससे वह व्यक्ति उत्तम फल प्राप्त कर सुखी बनता है। इस प्रकार सात्त्विक यज्ञ से मानव सुख-शान्ति प्राप्त करता है।

मनु जी ने द्रव्ययज्ञ का निम्नलिखित वैज्ञानिक रहस्य बताया है—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यमादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ।।

(मनु०–३.७६)

अर्थात् अग्नि में जो आहुति दी जाती है उससे उत्पन्न धुएँ को सूर्य अपनी किरणों द्वारा खींचकर

ऊपर ले जाते हैं उसी से मेघ तैयार होता है, और तब उससे वर्षा होती है।

भगवती गीता कहती है—

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।
यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्म समुद्भवः ।।

(गीता–३।१४)

'अन्नाद्भवन्ति भूतानि' अर्थात् खाये गये अन्न से शुक्रपर्यन्त शरीर के पोषक सप्तधातु उत्पन्न होते हैं और उन्हीं से प्राणियों की उत्पत्ति होती है। अन्न वर्षा से होता है, वर्षा यज्ञ से होती है और यज्ञकर्त्ता के अन्नादि संग्रह रूप व्यापार से होती है। इससे सिद्ध है कि समस्त प्राणियों की उत्पत्ति में कारण सात्त्विक द्रव्ययज्ञ ही है।

जिस यज्ञ में ज्ञान प्रधान हो वह ज्ञानयज्ञ कहलाता है। श्रीमद्भागवत, गीता, उपनिषद्, रामायण आदि का कीर्तन, अध्ययन, मनन आदि ज्ञानयज्ञ है। उससे ब्रह्मस्वरूप का ज्ञान होता है। उनके चिन्तन से आत्मा नित्य, अव्यक्त, अचिन्त्य अविनाशी एवं भगवान का दास है यह भी ज्ञान होता है। उससे ज्ञान वैराग्य और भक्ति का उदय हृदय में होता है।

अत एव नारद ने ज्ञान वैराग्य को युवा बनाने के प्रसङ्ग में कहा है—

ज्ञानयज्ञं करिष्यामि शुकशास्त्रकथोज्ज्वलम् ।
भक्ति ज्ञानविरागाणां स्वापनार्थं प्रयत्नतः ।।

अर्थात् जगत् में भक्ति, ज्ञान और वैराग्य की उपासना के लिए शुकशास्त्र श्रीमद्भागवत कथा रूप ज्ञानयज्ञ करुँगा। उन्होंने ऐसा ही किया भी।

श्रीमद्भागवत, उपनिषद्, गीता, रामायण आदि सद्शास्त्र की कथा से मनुष्य में सन्मार्ग का ज्ञान होता है। इसलिए सनकादियों ने कहा—

सत्कर्मसूचको नूनं ज्ञानयज्ञः स्मृते बुधैः ।
श्रीमद्भागवतालापः सतु गीतः शुकादिभिः ।।

अर्थात् सत्कर्म सूचक ज्ञान को ज्ञानयज्ञ कहते हैं। वह ज्ञान श्रीमद्भागवत आदि दिव्य शास्त्रों से प्राप्त होता है इसीलिए भगवान श्रीकृष्ण ने द्रव्ययज्ञ की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ को श्रेष्ठ कहा है।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञज्ञानयज्ञः परंतपः ।
सर्वं सर्वाखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ।।

(गीता–३।३३)

अर्थात् द्रव्यमय यज्ञ से ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है; क्योंकि सब कर्मों की परिसमाप्ति ज्ञान में ही होती है।

०००००

यज्ञोपवीत-संस्कार

— कौशल किशोर कश्यप, वाराणसी

यज्ञोपवीत देखने में भले ही तीन धागों का सूत्र हो, लेकिन जनेऊ के तीन सूत्र हमें तीन ऋणों देव ऋण, गुरु ऋण और पितृ ऋण से उऋण होने की याद दिलाते हैं। उसे धारण करने से आध्यात्मिक लाभ के साथ-साथ मनोवैज्ञानिक फायदे भी मिलते हैं। जनेऊ श्रेष्ठता और द्विजत्व का प्रतीक है इसको श्रद्धापूर्वक धारण करने वाले व्यक्ति को सदैव धार्मिक दायित्व की प्रेरणा मिलती रहती है। यह हमारे जीवन-क्रम को व्यवस्थित रखने की याद दिलाता रहता है।

यज्ञोपवीत धारण करने से जीवन संयमित और अनुशासित हो जाता है। जिसके कारण स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याओं को सामना नहीं करना पड़ता है। इस तरह यह सूत्र सेहत के लिए फायदेमन्द साबित होता है। यज्ञोपवीत को कान में चढ़ाने का प्रयोजन यह है कि मल-मूत्र की अशुद्धता का सूत्र से स्पर्श न हो। यज्ञोपवीत कान में चढ़ाने से यह एक्यूप्रेशर की तरह काम करता है। चढ़ाने के बाद कान से जुड़ी नसें दबती हैं, जिससे अपान वायु पर असर पड़ता है।

जीवन में पुरुषार्थ चतुष्टय पर ध्यान दें

भारतीय धर्मशास्त्रों में मनुष्य-जीवन के चार पुरुषार्थ माने हैं। ये हैं–धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। धर्मशास्त्रों में मुख्यत: धर्म का ही वर्णन है। अर्थ और काम को गौण माना गया है। ये धर्म के अनुकूल होने पर ही मनुष्य के योग्य बन सकते हैं। महापुराणों में भी इनके बीज बिखरे पड़े हैं। वहाँ चारों पुरुषार्थों के सम्बन्ध में एक वाक्य में सङ्केत दिया गया है, यथा—

धर्मार्थकाम मोक्षाख्यं पुरुषार्थ चतुष्टयम्।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के सम्बन्ध में मनुस्मृतिकार का कहना है कि इनका नित्य पालन करना चाहिए। इसमें मोक्ष का सम्बन्ध अध्यात्म से है। धर्म इसका मुख्य साधन है, अर्थ और काम जीवन के साधन हैं, उन्हें धर्म के साधन भी मान सकते हैं। मोक्ष को छोड़कर तीन पुरुषार्थों को त्रिवर्ग कहे हैं। मनुष्य जीवन से सम्बन्धित होने के कारण पुरुषार्थों को जीवन के चार लक्ष्य या चतुर्वर्ग संज्ञा भी दी गई है। धर्म इन पुरुषार्थों का मूल स्रोत है, अर्थ और काम इनके प्राकृतिक आधार हैं जो धर्म के संस्कार से मनुष्य के योग्य बनते हैं। मोक्ष जीवन का अन्तिम लक्ष्य है। इन चारों पुरुषार्थों का आपसी संयोग इस प्रकार है कि धर्म का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष है। अर्थात् मनुष्य चारों लक्ष्यों का बराबर उपभोग कर सकता है।

धर्म के अतिरिक्त मनुष्य अर्थ को भी प्राप्त कर सकता है। अर्थ का उपार्जन काम-वासना के लिए नहीं होना चाहिए, अर्थात् सांसारिक विषय भोगों से ऊपर उठकर अच्छे कार्यों में धन को लगाना चाहिए। यथा जीवन-निर्वाह तथा अन्य शुभ कार्यों पर लगाना। तृतीय पुरुषार्थ 'काम' है, काम का कार्य वासनायुक्त इन्द्रियों को तृप्त करना नहीं है, बल्कि सामाजिक दायित्वों को धर्मपूर्वक निभाना है। इस प्रकार चारों पुरुषार्थ एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं।

श्रीमद्भागवत् पुराण में जीवन के चार लक्ष्यों का निर्वाह इस प्रकार करना बताया गया है कि 'धर्म' का फल है–मोक्ष, उसकी सार्थकता अर्थ प्राप्ति में नहीं है, अर्थ केवल धर्म के लिए है भोग–विलास उसका फल नहीं है। भोग-विलास का फल इन्द्रियों को तृप्त करना नहीं है, उसका प्रयोजन है–जीवन-निर्वाह। इस प्रकर चारों का सामञ्जस्य है।

ऊपर के विवेचन से यह निष्कर्ष निकला कि चारों पुरुषार्थ आपस में इस भाँति जुड़े हैं कि एक-दूसरे के बिना तो अधूरे ही हैं—मनुष्य-जीवन में अर्थ का उतना ही महत्व है जितना धर्म का है। एक मात्र धर्म से ही जीवन-यात्रा का सफल होना सम्भव नहीं है। अर्थ के बिना तो जीवन में नीरसता आ जायेगी। अर्थ या धन के बिना मनुष्य कुछ भी नहीं कर सकता है। आधुनिक जगत् में तो यदि धन-दौलत है तो मनुष्य के लिए कोई भी कार्य असम्भव नहीं है। अर्थ का महत्त्व बताते हुए कौटिल्य कहते हैं कि 'धर्म और काम का मूल अर्थ ही है, अत: अर्थ का जीवन में बहुत महत्त्व है। लेकिन धर्मशास्त्रों का मत है कि अर्थ का उपभोग धर्म के अनुकूल ही होना चाहिये'।

तीसरा पुरुषार्थ काम है। धर्मशास्त्रों तथा महा-पुराणों में काम की उपादेयता को भी माना गया है। मनुष्य जीवन के चार भाग किये गये हैं, जिन्हें आश्रम कहा जाता है। ब्रह्मचर्य आश्रम की पूर्णता पर काम की पूर्णता के लिए मनुष्य को गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर पुत्रोत्पत्ति करनी चाहिये, जिसके द्वारा काम के सेवन के साथ प्रजा की वृद्धि एवं पितृ-

ऋण से भी ऊऋणता प्राप्त होती है।

मनुस्मृतिकार ने भी कहा है कि 'द्वितीय आयु में विवाह कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहिए। इस प्रकार धर्मानुकूल काम का उपयोग ही मान्य है किन्तु इन चारों पुरुषार्थों में सबसे बढ़कर मोक्ष ही है; क्योंक मुक्त पुरुष किसी प्रकार की सांसारिकता से कोई मतलब नहीं रखता है। अन्य पुरुषार्थों में तो नित्य काल का भय रहता है।

इस प्रकार चारों पुरुषार्थों का ऐसा सामञ्जस्य है कि मानव-जीवन का प्रत्येक पक्ष इन चारों के बिना अपूर्ण ही है। इन चारों से जीवन सफल हो जाता है। इसी विषय को स्पष्ट करते हुए एक विद्वान् ने कहा कि धर्म से सम्यक् आचरण, अर्थ से आर्थिक हित, काम से वासना, भावना तथा कलात्मक जीवन की सन्तुष्टि और मोक्ष से आत्मा की मुक्ति, गृहीत होती है, जो कि मानव-जीवन में पूर्णता के प्रतीक हैं।

मनुष्य-योनि पाकर इन चारों का सम्पादन किया जा सकता है। वैसे तो इस धरती पर नाना प्रकार के जीवों की योनियाँ हैं, किन्तु आत्मज्ञान व कुछ करने की बुद्धि मनुष्य-योनि में ही है। इसीलिए अनेक धर्मग्रन्थों में मनुष्य-योनि को श्रेष्ठ बताया गया है। पुरुषार्थ का शाब्दिक अर्थ ही पुरुष के लिए (पुरुषस्य अर्थः) है। पुरुष अर्थात् मनुष्य। इस प्रकार मानव-जीवन के जो लक्ष्य हैं वे चार ही हैं।

मानव-जगत् में पुरुषार्थ ऐसा प्रकाश-स्तम्भ है, जिससे मानव-जीवन की शक्ति साध्य और सङ्कल्प जगमगाते हैं। सदाचार की गङ्गोत्री से संयम की वह गङ्गा प्रस्रवित होती है, जो आगे चलकर शक्ति की यमुना और उन्नति की सरस्वती से मिलकर जीवन की त्रिवेणी के रूप में परिणत हो जाती है और वह वहाँ से कृतार्थ रूपी मार्ग को प्रशस्त करती हुई सफलता सागर में मिल जाती है।

ooooooo

१०८ दानों का माला क्यों?

(कौशल किशोर कश्यप, वाराणसी)

साधना के दौरान मन्त्र-जप की एक निश्चित संख्या का पूरा होना आवश्यक होता है। वैसे तो अङ्गुलियों के पोर, फूल, अक्षत के द्वारा भी जप गणना की जा सकती है। लेकिन लम्बे समय तक चलने वाले जप के लिए माला का उपयोग करना आवश्यक है। जप गणना के लिए उपयोग किए जाने वाली माला में १०८, ५४, २७ या १५ दानों का उपयोग किया जाता है। किन्तु अधिकतर जप के लिए १०८ दानों वाली माला का ही उपयोग किया जाता है।

ज्योतिषशास्त्र के अनुसार ब्रह्माण्ड स्थित नक्षत्रों की संख्या २७ होती है। प्रत्येक नक्षत्र के चार चरण होते हैं। इसलिए नक्षत्रों के सभी चरणों का स्पर्श करने के लिए १०८ बार जप करना चाहिए। इसके अलावा भारतीय आध्यात्म में नौ का अंक बहुत महत्वपूर्ण माना जाता है। ग्रहों की संख्या नौ है, नवरात्र के दिनों की संख्या भी नौ है। दुर्गा जी के नौ अवतार हैं। माला में १०८ दाने होने के मूल में नौ के अंक का पूज्य और प्रभावी होना तो है ही, जप संख्या के लिहाज से सुलभ और गणितीय सिद्धान्तों के आधार पर सर्वश्रेष्ठ होने के कारण माला में दानों की संख्या १०८ तय की गई है।

जगन्नियन्ता परमात्मा के कार्य वैलक्षण्य

सम्पूर्ण जड़-चेतन का समुदाय ही जगत् है। सबों का शरीर जड़ पदार्थ है। शरीर का धारण और नियन्त्रण जीवात्मा करता है। शरीर जीवात्मा के भोग में आने के कारण जीवात्मा का शेष भी है। वैसे ही परमात्मा सम्पूर्ण जगत् को धारण करते हैं। सबों के स्वामी भी परमात्मा ही हैं। इसलिए परमात्मा सम्पूर्ण जगत् की आत्मा हैं।

वृहदारण्यकोपनिषद् का मन्त्र इसे प्रमाणित करता है। जड़-चेतन सबों के अन्तर्यामी भगवान हैं। भगवान सब जड़-चेतन में रहते हुए भी उनका आधार जड़-चेतन नहीं है। जड़ चेतन के ही आधार भगवान हैं। जैसे समस्त प्राणियों में विचरते रहने वाला वायु सबों को जीवित रहने में कारण है, सबों के आधार है; परन्तु वायु का आधार प्राणी नहीं होते। उसी प्रकार परमात्मा सबों में रहते हुए सबों के आधार हैं; परन्तु परमात्मा का आधार कोई नहीं होता है। इसीलिए भगवान् ने कहा है कि मुझमें सम्पूर्ण जगत् स्थित है; परन्तु मैं जगत् में स्थित नहीं हूँ।

मत्स्यानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ।

(गीता–९-४)

इसका भाव है कि संसार में जिस प्रकार का आधार-आधेय भाव देखा जाता है, जैसे घट, हाण्डी आदि पात्र जल, दूध, घी आदि तरल पदार्थों के आधार होते हैं, उस प्रकार का आधार-आधेय भाव जगत् और परमात्मा में नहीं है। भगवान अपने मनोमय सङ्कल्प मात्र से जड़-चेतन रूप जगत् को धारण-पोषण करते हैं, ऐसा असाधारण आश्चर्यमय योग केवल भगवान् में ही है। इसलिए भगवान् ने कहा है कि मेरा मन भूतभावन है। अर्थात् मैं मनोमय सङ्कल्प से भूतों को धारण करने वाला हूँ। यह कार्य जगत् में किसी दूसरे से सम्भव नहीं है। भगवान् विश्व का सृजन भी अपने सङ्कल्प से ही करते हैं—

तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय । (छा०–६.२.३॥५॥)

जैसे वायु भी विना आधार के केवल भगवत्सङ्कल्प से अमूर्त्त रूप में आकाश में स्थित रहकर सर्वत्र विचरता है। उसे धारण करने वाला दूसरा कोई चेतन नहीं है। आकाश में पक्षी उड़ते हैं, उनका आधार उनके अन्दर का जीव होता है; परन्तु जड़ पदार्थ वायु को धारण करने वाला कोई चेतन नहीं है, फिर भी वह भगवत्सङ्कल्प से आकाश में स्थित है। जैसे भगवान् ही अपने सङ्कल्प से वायु को आकाश में धारण किये हुए हैं, उसी प्रकार सब प्राणी अदृश्य रूप परमेश्वर में स्थित हैं, अर्थात् भगवान् अपने सङ्कल्प से उन सबों को धारण किये हुए रहते हैं।

जैसे मेघों का विलक्षण कार्य, समुद्र की सीमाबद्ध स्थिति, चन्द्रमा का क्षय वृद्धिरूप में विभाग, वायु की चञ्चलता, बिजली की चमक, सूर्य की गति आदि आश्चर्यपूर्ण है, वैसे ही भगवान् की यह विचित्र माया अनेक आश्चर्यपूर्ण कार्य के रूप में प्रकट होती है। भगवान् के विलक्षण कार्य का वर्णन तैत्तिरीयोपनिषद् में निम्न प्रकार से किया गया है—श्री परमेश्वर के भय से वायु नियमानुसार चलते हैं, सूर्य ठीक समय पर उदित और अस्त होते हैं, अग्नि, इन्द्र और मृत्यु ये सब अपना-अपना कार्य नियमपूर्वक सुव्यवस्थित रूप में कर रहे हैं।

जड़-चेतन का समुदाय रूप जगत् जो अभी स्थूल रूप में देखा जा रहा है, यह कल्प के अन्त

में (ब्रह्मा की आयु समाप्त होने पर) भगवान् के सङ्कल्प से उनके शरीरभूत तम रूप प्रकृति में लीन हो जाता है। लीन का अर्थ है स्थूलावस्था से सूक्ष्मावस्था में हो जाना।

इसी प्रकार महाप्रलय के बाद सृष्टि के आरम्भ में भगवान् सूक्ष्म जड़-चेतन को स्थूल जड़-चेतन के रूप में परिणत कर देते हैं। यहाँ सूक्ष्म का अर्थ है नाम-रूप के यथोग्य और स्थूल का अर्थ है नामरूप के योग्य। जैसे किसी भी वृक्ष के बीज में उस वृक्ष की शाखाओं, पत्तों, फूलों और फलों का प्रत्यक्षीकरण नहीं होता है और शाखा, पत्ता, फूल तथा फल शब्द से व्यवहार भी नहीं होता है, वैसे ही प्रलयकाल में जब यह स्थूल जगत् सूक्ष्म रूप में हो जाता है तब जागतिक पदार्थों के समान उसके लिए नाम-रूप का व्यवहार नहीं होता है; परन्तु बीज जब वृक्ष के रूप में परिणत हो जाता है तब उसमें शाखा, पत्ता आदि नामों से व्यवहार एवम् उनके रूप का भी प्रत्यक्ष होता है। उसी प्रकार महाप्रलय के बाद जब सृष्टि होती है तब नाम और रूप का उपभोग होता है।

इसी भाव से श्रीस्वामी यामुनाचार्य जी ने आलवन्दार स्तोत्र में भगवान से कहा है कि प्रलयकाल में शिव, ब्रह्मा आदि समस्त जड़-चेतन रूप प्रपञ्च सूक्ष्मरूप में किसके पेट में रहते हैं? इस जड़-चेतनरूप प्रपञ्च की रक्षा कौन करता है? यह सब किसकी नाभी से उत्पन्न हैं? आपसे दूसरा कौन है? जो इसे निगलकर पुनः उगल दे, अर्थात् ये सब गुण आप में ही है।

oooo

जीने की रीति

यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक सुकरात भ्रमण करते हुए एक शहर पहुँचे, वहाँ उनकी एक वृद्ध व्यक्ति से भेंट हुई, दोनों काफी घुल-मिल गये। उन्होंने काफी खुलकर बातें की।

सुकरात ने पूछा—इस वृद्धावस्था में आपका जीवन कैसे चल रहा है?

वृद्ध मुस्कराकर बोला—मैं अपना पारिवारिक उत्तरदायित्व अपने समर्थ पुत्रों को देकर निश्चिन्त हूँ, वे जो कहते हैं; कर देता हूँ, जो खिलाते हैं, खा लेता हूँ और अपने पौत्र-पौत्रियों के साथ हँसता-खेलता रहता हूँ। बच्चे कुछ भूल करते हैं। मैं चुप रहता हूँ। मैं उनके किसी कार्य में बाधक नहीं बनता। जब कभी वे परामर्श लेने आते हैं, मैं अपने जीवन के अनुभवों को उनके सामने रख देता हूँ। वे मेरी सलाह पर कितना चलते हैं, यह देखना मेरा काम नहीं है। यह आग्रह नहीं कि वे मेरे निर्देशों पर चलें। यदि फिर भी भूल करते हैं तो मैं चिन्तित नहीं होता। हाँ, यदि वे पुनः मेरे पास आते हैं तो भी मैं क्रुद्ध नहीं होता, बल्कि अपनी सलाह देकर उन्हें विदा करता हूँ।

वृद्ध की बात सुनकर सुकरात बहुत प्रसन्न हुए और बोले—इस आयु में जीवन कैसे जिया जाय, यह आपने बहुत अच्छी तरह समझ लिया है।

गरुड़ ने किया श्रीराम कार्य में सहयोग

एक बार भगवान श्रीराम जब सपरिवार सभा में विराज रहे थे उसी समय विभीषण बड़ी विकरालतापूर्वक अपनी स्त्री तथा चार मन्त्रियों के साथ दौड़े हुए आये और बार-बार उच्छ्वास लेते हुए कहने लगे—राजीवनयन राम! मुझे बचाइये, बचाइये। कुम्भकर्ण के पुत्र मूलकासुर नामक राक्षस ने, जिसे मूल नक्षत्र में उत्पन्न होने के कारण कुम्भकर्ण ने वन में छुड़वा दिया था; परन्तु मधुमक्खियों ने जिसे पाल लिया था, तरुण होकर तपस्या के द्वारा ब्रह्माजी को प्रसन्न कर उनके बल से गर्वित होकर वह बड़ा भारी ऊधम मचा रखा है। उसे आपके द्वारा लङ्का-विजय तथा मुझे राज्य-प्रदान की बात मालूम हुई तो वह पाताल-वासियों के साथ दौड़ा हुआ लङ्का पहुँचा और मुझपर धावा बोल दिया। जैसे-तैसे मैं उसके साथ छः महीने तक युद्ध करता रहा। गत रात्रि में मैं अपने पुत्र, मन्त्रियों तथा स्त्री के साथ किसी प्रकार सुरङ्ग से भागकर यहाँ पहुँचा हूँ। उसने कहा कि पहले भेदिया विभीषण को मारकर फिर पितृहन्ता राम को भी मार डालूँगा। सो राघव! वह आपके पास भी आता ही होगा, इसलिए ऐसी स्थिति में आप जो उचित समझते हों, वह तुरन्त कीजिये।

भक्तवत्सल भगवान श्रीराम के पास उस समय यद्यपि बहुत से अन्य आवश्यक कार्य भी थे, तथापि भक्त की करुण कथा सुनकर उन्होंने अपने पुत्र लव, कुश तथा लक्ष्मण आदि भाइयों एवं सारी वानरी सेना को तुरन्त तैयार किया और पुष्पकयान पर चढ़कर झट लङ्का की ओर चल पड़े। मूलकासुर को राघवेन्द्र की आने की बात मालूम हुयी तो वह भी अपनी सेना लेकर लड़ने के लिए लङ्का के बाहर आ गया। बड़ा भारी तुमुल युद्ध छिड़ गया। सात दिनों तक घोर युद्ध होता रहा। बड़ी कठिन समस्या उत्पन्न हो गयी। अयोध्या से सुमन्त आदि सभी मन्त्री भी आ पहुँचे। हनुमान जी बराबर सञ्जीवनी लाकर वानरों, भालुओं तथा मानुषी सेना को जिलाते रहे; परन्तु युद्ध का परिणाम उलटा ही दीखता रहा।

भगवान चिन्ता में कल्प वृक्ष के नीचे बैठे थे। मूलकासुर अभिचार होम के लिए गुप्त गुफा में चला गया था। विभीषण भगवान से उसकी गुप्त चेष्टा बतला रहे थे। तब तक ब्रह्माजी भी वहाँ आ गये और कहने लगे—रघुनन्दन! इसे मैंने स्त्री के हाथ मरने का वरदान दिया है। इसके साथ ही एक बात और है, उसे भी सुन लीजिये। एक दिन इसने मुनियों के बीच शोक से व्याकुल होकर चण्डी

सीता के कारण मेरा कुल नष्ट हुआ, ऐसा वाक्य कहा। इस पर एक मुनि ने क्रुद्ध होकर उसे शाप दे दिया—दुष्ट! तूने उन्हें चण्डी कहा है, वही सीता तुझे जान से मार डालेगी। मुनि का इतना कहना था कि वह दुष्टात्मा उन्हें खा गया। अब क्या था, शेष सब मुनि लोग चुपचाप उसके डर के मारे धीरे से वहाँ से खिसक गये। इसलिए अब उसकी कोई औषध नहीं है। अब तो केवल सीता ही इसके वध में समर्थ हो सकती हैं। ऐसी दशा में हे रघुनन्दन! आप उन्हें ही यहाँ बुलाकर इसका तुरन्त वध कराने की चेष्टा करें। यही इसके वध का एकमात्र उपाय है।

इतना कहकर ब्रह्माजी चले गये। भगवान श्रीराम ने भी तुरन्त हनुमान जी और विनतानन्दन गरुड़ को बुलाकर कहा हे गरुड! तुम जाओ और सीताजी को अपनी पीठ पर बिठाकर यहाँ ले आओ। इधर सीता की बड़ी विचित्र दशा थी। उन्हें श्रीराघवेन्द्र रामचन्द्र के विरह में एक क्षण भी चैन नहीं था। वे बार-बार प्रासाद-शिखर पर चढ़कर देखती थीं कि कहीं दक्षिण से पुष्पक पर प्रभु तो नहीं पधार रहे हैं। वहाँ से निराश होकर वे पुनः द्राक्षामण्डप के नीचे शीतलता की आशा में चली जाती। कभी वे प्रभु की विजय के लिए तुलसी, शिवप्रतिमा, पीपल आदि की प्रदक्षिणा करतीं और कभी ब्राह्मणों से मन्त्रसूक्त का पाठ करातीं। कभी वे दुर्गा की पूजा करके यह माँगती कि विजयी श्रीराम शीघ्र लौटें और कभी ब्राह्मणों से शतरुद्री का जप करातीं। नींद तो उन्हें कभी आती ही नहीं थी। वे दुनियाँ भर के देवी-देवताओं की मनौती मानती तथा सारे भोगों, शृङ्गारों से विरत रहतीं। इसी प्रकार युग के समान उनके दिन व्यतीत हो रहे थे कि गरुड़ और हनुमान जी उनके पास पहुँचे। पति के सन्देश को सुनकर सीता गरुड़ पर सवार होकर तुरन्त चल दी और लङ्का में पहुँचकर उन्होंने कल्पवृक्ष के नीचे प्रभु का दर्शन किया। प्रभु ने उनके दौर्बल्य का कारण पूछा। पराम्बा ने लजाते हुए हँसकर कहा—स्वामिन्! यह केवल आपके अभाव में हुआ है। आपके बिना न नींद आती है न भूख लगती है। मैं आपसे वियुक्त हो योगिनी की तरह रात-दिन बलात् आपके ध्यान में पड़ी रही। बाह्य शरीर में क्या हुआ है, इसका मुझे कोई ज्ञान नहीं।

तत्पश्चात् प्रभु ने मूलकासुर के पराक्रम आदि की बात कही। फिर तो क्या था, भगवती को क्रोध आ गया। उनके शरीर से एक दूसरी तामसी शक्ति निकल पड़ी, उसका स्वर बड़ा भयानक था। वह लङ्का की ओर चली। तब तक वानरों ने भगवान के सङ्केत से गुहा में पहुँचकर मूलकासूर को अभिचार से उपरत कर दिया था। वह दौड़ता हुआ इनके पीछे चला तो उसका मुकुट गिर पड़ा। तथापि वह रणक्षेत्र में आ गया। छाया सीता को देखकर उसने कहा—तू भाग जा। मैं स्त्रियों पर पुरुषार्थ नहीं दिखाता; परन्तु छाया ने कहा—मैं तुम्हारी मृत्यु चण्डी हूँ। तूने मेरे पक्षपाती ब्राह्मण को मार डाला था, अब मैं तुम्हें मारकर उसका ऋण चुकाऊँगी। इतना कहकर उसने मूलकासुर पर पाँच बाण चलाये। मूलक ने भी बाण चलाना प्रारम्भ किया। अन्त में चण्डिकास्त्र चलाकर छाया ने मूलकासुर का शिर उड़ा दिया। वह लङ्का के दरवाजे पर जा गिरा। राक्षस हाहाकार करते हुए भाग खड़े हुए। छाया लौटकर सीता के शरीर में प्रवेश कर गयी। तत्पश्चात् विभीषण ने प्रभु को पूरी लङ्का दिखायी; क्योंकि पितावचन के कारण पहली बार वे लङ्का में नहीं जा सके थे। सीताजी ने उन्हें अपना वास-स्थल अशोकवन दिखाया। कुछ देर तक वे प्रभु का हाथ पकड़कर उस वाटिका में घूमीं भी। फिर कुछ दिनों तक लङ्का में रहकर वे सीता तथा लव-कुशादि के साथ पुष्पकयान से अयोध्या लौट आये।

oooo

आचार्य रूप में गये हनुमान जी लङ्का में

ततो रावणनीतायाः सीतायाः शत्रुकर्षणः ।
इयेष पदमन्वेष्टुं चारणाचरिते पथि ।।

किष्किन्धा काण्ड में भगवान श्रीराम ने जिस श्रीहनुमान की विद्वता की भूरि-भूरि प्रशंसा श्रीलक्ष्मण जी से की है वे ही श्रीहनुमान जी महेन्द्र गिरि पर चढ़कर एकाग्रचित हो गये और सौ योजन समुद्र के उस पार लङ्का का मन ही मन स्मरण किया। तदनन्तर शत्रु का संहार करने वाले हनुमान जी ने रावण सीताजी का हरणकर लङ्का में जहाँ रखे हुए था, उसे पता लगाकर सीताजी की श्रीराम मिलन का पूर्ण विश्वास दिलाने के लिए सदाचार मार्ग पर स्थित होकर लङ्का के लिए प्रस्थान किया।

यद्यपि श्रीहनुमान जी ने अपने को श्रीराम के दूत के रूप में स्वीकार किया है तथापि महामनीषियों ने उन्हें आचार्य के रूप में ही स्वीकार किया है। अतएव ***'चारणाचरिते पथि' की व्याख्या 'चारवन्ति आचारयन्ति धर्मानिति चारणा पूर्वाचार्याः तैराचरिते पथि स्थिता'*** अर्थात् पूर्वाचार्य के सदाचार मार्ग पर हनुमान जी स्थित हो गये ऐसी श्रीगोविन्दराज ने व्याख्या की है।

पूर्वाचार्यों ने कहा है कि लङ्का शरीर है, अहङ्कार रावण है, ममकार कुम्भकर्ण है। दस इन्द्रियाँ राक्षसियाँ हैं, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य और दम्भ आदि रावण के पुत्र मेघनाद आदि राक्षस हैं। इस लङ्का रूपी शरीर में सीता रूपी नित्य चेतन पड़ा हुआ है। चेतन को ब्रह्मज्ञान के विना महान् दुःख होता है।

श्रीराम रूप ब्रह्म का ज्ञान होते हुए भी उनके वियोग के कारण सीता रूप चेतन को महान् दुःख का अनुभव हो रहा है। जीव को ब्रह्म से सम्बन्ध करा देना आचार्य का कर्त्तव्य होता है।

लङ्का में श्रीहनुमान जी सीताजी के पास आचार्य रूप में पहुँचे हैं। जो शास्त्र के अर्थों को चुनकर अपने आचरण में लाते हुए दूसरों को आचरण में लाने के लिए उपदेश करे, उसे आचार्य कहते हैं—

आचिनोति हि शास्त्रार्थानाचारे स्थापयत्यपि ।
स्वयमाचरते यस्मात्तस्मादाचार्य उच्चते ।।

अगर शिष्य को आचार्य के एक बार के उपदेश से यथार्थ तत्त्व का ज्ञान नहीं होता हो तो आचार्य उसे बार-बार उपदेश देकर समझाने का प्रयास करते हैं। जैसे कृषक फसल लगाता है; परन्तु वह कभी-कभी खराब हो जाती है, उससे कृषक खेती करना बन्द नहीं कर देता, उसी प्रकार आचार्य भी शिष्य को उपदेश करते हैं अगर एक बार में शिष्य को बोध नहीं होता तो आचार्य उसे बार-बार समझाने के लिए प्रयत्न करते हैं।

वैदेही सीता ने श्रीहनुमान से अनेक बार कहा कि सौ योजन समुद्र पारकर वानरी सेना के साथ श्रीराम आ सकेंगे, इसमें मुझे सन्देह है; परन्तु हनुमान ने दृढ़तापूर्वक कहा कि श्रीराम समुद्र में सेतु बनाकर वानरी सेना के साथ लङ्का में शीघ्र आयेंगे और राक्षसों सहित रावण का वधकर आपको अयोध्या में ले जायेंगे। हनुमान जैसे आचार्य के वचन पर सीताजी को पूर्ण विश्वास हो गया, जिसके परिणामस्वरूप श्रीराम ने राक्षस सहित रावण का वधकर सीताजी का लङ्का से उद्धार किया।

वे ही हनुमान जी रावण के पास भी आचार्य के रूप में गये। हनुमान जी श्रीराम तत्त्व का ज्ञान कराकर रावण को शरणागत बना देना चाहते थे; परन्तु रावण को हनुमान जैसे सुयोग्य आचार्य के वचन पर विश्वास नहीं हुआ। इसलिए उसका सर्वश नाश हुआ।

इस तरह हनुमान ने एक उत्तम आचार्य का कर्त्तव्य सुन्दरकाण्ड में प्रदर्शित किया है।

०००००

नारियों के लिए पातिव्रत्य धर्म श्रेयस्कर है।

पूर्वकाल में श्रेष्ठ नगर वर्धमानपुर में वीरशान्त नाम से विख्यात एक ब्राह्मण रहते थे, वे वेद-विद्या में प्रवीण थे। उनको एक कन्या उत्पन्न हुई, जो प्रमाण से बहुत बड़ी थी। वह कुमारी धीरे-धीरे युवावस्था को प्राप्त की; परन्तु किसी भी पुरुष ने उसका वरण नहीं किया; क्योंकि जो काममोहित पुरुष अत्यन्त थोड़े केशवाली, अत्यधिक बड़ी तथा अधिक नाटी कन्याओं से विवाह करता है, वह छः महीने के भीतर मृत्यु को प्राप्त होता है। इसी कारण सब लोग उस कुमारी को बहुत बड़ी बताकर त्याग देते थे। इससे उस कुमारी के मन में वैराग्य उत्पन्न हो गया और वह घोर तपस्या में लग गयी।

इस प्रकार तप में लगी हुई उस कन्या के समीप राजसम्पदा उपस्थित हुई। उस समय इन्द्र ने उसे प्रत्यक्ष दर्शन देकर कहा—शुभे! कन्यावस्था में ऋतुमती हो गई हो, इसका कारण सदोष हो गयी हो। अतः किसी पति का वरण करो, जिससे पवित्र हो सकोगी। यह सुनकर उस कन्या को बड़ी लज्जा हुई। उसने वर्धमानपुर में जाकर हाथ उठाकर कहा—यदि कोई कुलीन ब्राह्मण मेरा पाणिग्रहण करे, तो मेरी आधी तपस्या उसकी हो जायेगी और मैं उसका कल्याण करूँगी। यह सुनकर किसी कोढ़ी ब्राह्मण ने उसे बुलाकर कहा— यदि तू सदा मेरे कथनानुसार चलेगी तो मैं तेरा पाणिग्रहण करके तेरे साथ विवाह करूँगा। कन्या ने कहा—द्विजश्रेष्ठ! तुम शास्त्रोक्त विधि से मेरा पाणिग्रहण करो, मैं तुम्हारी प्रत्येक आज्ञा का पालन करूँगी।

तदनन्तर ब्राह्मण ने गृह्यसूत्रोक्त विधान से देवता, अग्नि तथा गुरु के समीप उस कुमारी का पाणिग्रहण किया। विवाह के पश्चात् दीर्घिका पति से बोली—नाथ! आज्ञा दीजिये मैं इस समय आपकी क्या सेवा करूँ? पति ने कहा—सुन्दरि! मैं तुम्हारी सहायता से अड़सठ तीर्थों में स्नान करना चाहता हूँ। यदि यह कार्य कर सको तो करो। तब उस पतिव्रता ने 'बहुत अच्छा' कहकर पति की आज्ञा शिरोधार्य की और पति के बराबर बाँस की एक मजबूत खाट बनाकर उस पर कोमल रूई भरा हुआ बिछावन डाल दिया और हाथ जोड़कर कहा—प्राणनाथ! इस पर बैठिये, जिससे कि मैं आपको मस्तक पर लेकर समस्त शुभ तीर्थों की यात्रा करा सकूँ।

तब कोढ़ी ब्राह्मण प्रसन्न होकर पृथ्वी से शनैः-शनैः उठकर बाँस के उस खटोले पर बैठ गया और वह उसे माथे पर लेकर तीर्थों में घूम-घूमकर अपने पति को तीर्थ स्नान कराने लगी। क्रमशः समूची पृथ्वी पर घूमती हुई एक दिन सन्ध्या समय वह हाटकेश्वर क्षेत्र में पहुँची। उस समय वह थक गयी थी, पैर लड़खड़ा रहे थे। उसी प्रदेश में उस दिन मुनिवर माण्डव्य को शूली पर चढ़ाया गया था। वे अत्यन्त दुःख सहन करते हुए शूली पर बैठे हुए थे। पतिव्रता दीर्घिका माथे पर भार लेकर उसी मार्ग से निकली। उसके धक्के से वह शूल हिल गया और मुनिवर माण्डव्य का शरीर भी बिचलित हो गया। इससे उन्हें बड़ी भारी पीड़ा हुई और वे दुःखी होकर बोले—किस पापी ने मेरे इस शूल को हिला दिया, जिससे मुझ दुःखी का दुःख और भी बढ़ गया।

दीर्घिका बोली—महाभाग! मैंने आपको देखा नहीं, भूल से आपका स्पर्श हो गया। माण्डव्य बोले—निष्ठुरे! तुमने मुझे प्राणान्तकारिणी पीड़ा दी है, इसलिये तुम्हारा अभीष्ट पति सूर्य किरणों का

स्पर्श होते ही मेरे शाप से निश्चय ही अपने प्राणों का त्याग करेगा।

दीर्घिका ने कहा—यदि प्रात:काल मेरे पति की मृत्यु होगी तो अब प्रात:काल या सूर्योदय होगा ही नहीं। ऐसा कहकर दीर्घिका धरती पर बैठ गयी और बाँस के खलोटे में बैठे पति को उसने माथे पर से उतार दिया। उस समय कोढ़ी ने कहा—प्रिये! मुझे प्यास लगी है, अत: पीने योग्य शीतल जल ले लाओ। इतना सुनते ही वह पति की आज्ञा का पालन करने के लिये उत्सुक हो पानी लाने के लिए इधर-उधर घूमने लगी, किन्तु अन्धकार में उसे कहीं भी जल दिखलायी नहीं दिया। तब उसने पृथ्वी पर आघात किया और माण्डव्य ऋषि के देखते-देखते निर्मल एवं स्वादिष्ट जल निकल आया। फिर परिश्रम से कष्ट पाते हुए अपने पति को उस जल से स्नान कराया और उन्हें जल पिलाकर स्वयं भी पिया।

उस समय पतिव्रता के भय से सूर्यदेव उदित नहीं हुए। इससे प्रात:काल आने में बहुत विलम्ब हुआ। रात्रि को बहुत बड़ी होती देखकर यज्ञकर्म करने वाले शान्तचित्त ब्राह्मण बहुत दु:खी हो गये। देवता यज्ञ भाग से वञ्चित होकर बड़े कष्ट में पड़ गये और सूर्यनारायण के निकट जाकर बोले—दिवाकर! आपका उदय क्यों नहीं होता? देखिये आपके बिना सम्पूर्ण जगत् व्याकुल हो रहा है। सूर्यदेव ने कहा—देवतागण! मैंने पतिव्रता के आदेश से अपना उदय रोक रखा है। अत: आप सब लोग उसके पास जाकर मेरे उदय के लिए अनुरोध करें। उसकी आज्ञा होने पर मैं सुखपूर्वक उदित हो जाऊँगा। एक लक्ष अश्वमेध यज्ञों के अनुष्ठान में जो फल होता है, उसी को स्त्री केवल पातिव्रत्य धर्म के पालन से प्राप्त कर लेती है।

यह सुनकर देवगण उस उत्तम क्षेत्र में गये और दीर्घिका के सम्मुख खड़े हो कोमल स्वर में कहने लगे—पतिव्रते! तुमने जो सूर्य का उदय रोक दिया है, वह अच्छा नहीं किया; क्योंकि उससे पृथ्वी पर शुभकर्मों का अनुष्ठान रूक गया है। अत: शुभे! तुम आज्ञा दे दो, जिससे सूर्यदेव उदित हों। दीर्घिका ने कहा—माण्डव्य मुनि ने अकारण ही मेरे पति को शाप दिया है। जब मेरे पति नहीं रहेंगे—तब मुझे सूर्योदय से, यज्ञ से, श्राद्ध से और दान आदि से क्या प्रयोजन है?

यह सुनकर देवगण एक-दूसरे की ओर देखकर दीर्घिका से बोले—भद्रे! सूर्य का उदय होने दो, तुम्हारे प्रियपति की भी मृत्यु हो जाय और ये मुनीश्वर माण्डव्य भी सत्यवादी हो जायँ। इसके बाद हम शीघ्र ही मृत्यु के मार्ग में गये हुए तुम्हारे पति को पुन: जीवित कर देंगे। उस समय तुम्हारे पति की अवस्था पच्चीस वर्ष की हो जायेगी और तुम बड़े सुन्दर रूप में अपने पति का दर्शन करोगी तथा तुम भी पन्द्रह वर्ष की सी अवस्था से युक्त एवं कमल के समान नेत्रों वाली होकर स्वेच्छानुसार मर्त्यलोक में सुख का उपभोग करोगी। उसी प्रकार ये पापरहित मुनिवर माण्डव्य भी शूलभेद की पीड़ा से मुक्त होकर सुख के भागी होंगे। पश्चात् दीर्घिका ने 'बहुत अच्छा' कहकर देवताओं की बात मान ली। उसके हाँ कहते ही भगवान सूर्य बड़े वेग से उदित हुए। सूर्य की किरणों का स्पर्श होते ही कोढ़ी ब्राह्मण की मृत्यु हो गयी, किन्तु देवताओं के हाथों का स्पर्श पाकर वह पुन: उठ खड़ा हुआ। उसकी अवस्था पच्चीस वर्ष की सी दिखायी दे रही थी। जान पड़ता था दूसरे कामदेव ही आ गये हैं। उसे अपने पूर्व जन्म की सब बातों का स्मरण था, अत: इस नूतन जन्म से उसे बड़ा हर्ष हो रहा था। दीर्घिका भी श्रीशङ्कर जी का स्पर्श पाकर दिव्य लक्षणों से लक्षित युवती हो गयी। उसके नेत्र कमलदल के समान शोभा पा रहे थे और मुख चन्द्रमा के समान मनोहर प्रतीत हो रहा था।

तदनन्तर देवताओं ने माण्डव ऋषि को शूली

से उतार कर कहा—मुने! आपने जो शाप दिया था, वह आपका वचन सत्य किया गया। सूर्य किरणों के स्पर्श से वह कोढ़ी ब्राह्मण मर गया। तत्पश्चात् पुनः हमने उस स्त्री के साथ उसे तरुण जीवन प्रदान किया है, अतः अब आप अपने आश्रम में पधारें और हमसे वर माँगे। माण्डव्य ने कहा—श्रेष्ठदेवगण! मैं आप लोगों से वर ग्रहण करूँगा; परन्तु धर्मराज मेरे एक प्रश्न का निर्णय करें। संसार में समस्त प्राणियों के लिए सुख और दुःख के रूप में उनके पूर्वजन्म का शुभाशुभ कर्म ही उपस्थित होता है। यह सर्वथा सत्य सिद्धान्त है। मैंने इस लोक या परलोक में कौन-सा पातक किया, जिससे मुझे ऐसी वेदना प्राप्त हुई और किसी प्रकार की मृत्यु नहीं हुई।

धर्मराज ने कहा—विप्रवर! आपने दूसरे शरीर में बचपन के समय तीखे शूल के अग्रभाग से पृथ्वी के एक जीव को बींधा था। यही पाप आपसे हुआ है, इसके अतिरिक्त दूसरा कोई पाप थोड़ा-सा भी नहीं दिखायी देता। यही कारण है कि आपको इस दशा में डाला गया है। धर्मराज की यह बात सुनकर माण्डव्य मुनि को बड़ा रोष हुआ और उन्होंने सामने खड़े धर्मराज से कहा—धर्म! तुमने मुझे थोड़े से अपराध के लिए महान् दण्ड दिया है। अतः मेरा शाप ग्रहण करो। तुम मानव शरीर पाकर शूद्रयोनि में स्थित हो जाति संहारजनित महान् दुःख का उपभोग करोगे तथा आज से मैंने समस्त देहधारियों के लिए व्यवस्था कर दी कि आठ वर्ष से ऊपर का मनुष्य ही अपने निन्दित कर्म के कारण दण्ड का भागी होगा। ऐसा कहकर माण्डव्य ऋषि भी पीड़ा से मुक्त हो अभीष्ट दिशा को ओर चल दिये। उन्हें जाते देख सब देवताओं ने कहा—भगवन! धर्मराज तो केवल न्याय करते हैं, अतः आप उन्हें शाप के द्वारा शूद्र न बनावें। आप इनके ऊपर कृपा प्रदान करें।

माण्डव्य ने कहा—मैंने जो बात कह दी, वह मिथ्या नहीं हो सकती। निश्चय ही धर्मराज शूद्रयोनि में पड़ेंगे तथापि शूद्रयोनि में रहते हुए भी इन्हें उत्तम ज्ञान की प्राप्ति होगी और ये पुनः परम उत्तम धर्मराज पद को प्राप्त कर लेंगे। अब यदि आप लोग मुझे वर देना ही चाहते हैं तो यह शूली आप के तथा मेरे स्पर्श से धर्मदायक तीर्थ बन जाय।

oooo

वाणी का सदाचार

नारुंतुदः स्यान्न नृशंसवादी न हीनतः परमभ्याददीत्।
ययास्य वाचा पर उद्विजेत न तां वदेद् रुशतीं पापलोक्याम्।।
वाक्सायका वदनान्निष्पन्ति यैराहतः शोचति रात्र्यहानि।
परस्य वा मर्मसु ये पतन्ति तान् पण्डितो नावसृजेत् परेषु।।

'दूसरों के मर्मपर आघात न करे, क्रूरतापूर्ण बात न बोले तथा औरों को नीचा न दिखाये। जिसके कहने से दूसरों को उद्वेग होता हो, ऐसी रुखाई से भरी हुई बात पापियों के लोकों में ले जाने वाली होती है; अतः वैसी बात कभी न बोले। जिन वचनरूपी बाणों के मुँह से निकलने से आहत होकर मनुष्य रात-दिन शोक में पड़ा रहता है और जो दूसरों के मर्मस्थानों पर घातक चोट करते हैं, ऐसे वचनबाण सद्-असद्-विवेकशील, विद्वान् पुरुष दूसरों के प्रति कभी न छोड़े।

(महा०-अनुशा०–४।३१-३२)।

उपनिषद् का उपदेश स्मरणीय है

ॐ सहनाववतु सहनौ भुनक्तु सहवीर्यं करवावहै ।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ।।

भारतीय विचार-परम्परा के इतिहास में उपनिषद् ग्रन्थों के आविर्भाव से वैदिक साहित्य में एक सर्वथा नये युग का सूत्रपात होता है। ब्राह्मण ग्रन्थों तक सम्पूर्ण वैदिक साहित्य मन्त्र-संहिताओं का ही व्याख्या रूप है। मन्त्र-संहिताओं की व्याख्या का एक ही आधार लेकर चलने वाले ब्राह्मण ग्रन्थ और उपनिषद्-ग्रन्थ वस्तुत: एक-दूसरे से पूरब-पश्चिम जैसी असमानता रखते हैं। यद्यपि उपनिषद्-ग्रन्थों का सीधा सम्बन्ध मन्त्र-संहिताओं से है, किन्तु उन्हें ब्राह्मण-साहित्य का आलोचना ग्रन्थ कहा जाय तो अनुचित न होगा।

उपनिषद् वैदिक भावना के विकास रूप है। कर्म और ज्ञान दोनों की उद्भावना इसमें वर्णित है। कर्म-भावना को लेकर ब्राह्मणों की रचना हुई और ज्ञान-भावना को लेकर उपनिषद् रचे गये। कर्म प्रधान ब्राह्मण ग्रन्थों का विधान जब पशु-हिंसा जैसे स्थूल कार्यों तक पहुँच गया, तब उस समय के विचारवन्त मनीषियों ने कर्मकाण्ड की इस स्थूलता के प्रति अविश्वास की भावनायें व्यक्त की। उन्होंने पुरोहितों द्वारा प्रतिपादित इन भोगवादी, नितान्तस्वार्थपूर्ण कर्मों को हेय कहकर पुकारा। कर्ममाण्ड के इस हेय पक्ष के विरोध में ज्ञानकाण्ड का जन्म हुआ, जिसके प्रतिपादक ग्रन्थ उपनिषद् कहलाये। उपनिषद् ज्ञान के आविर्भाव के कारण भारतीय साहित्य में इतना महान् परिवर्तन हुआ कि उसकी कायापलट हो गई। यह उपनिषद् युग भारतीय विचारधारा की पराकाष्ठा का युग रहा है। इस युग में नये अन्वेषण, नई मान्यताएँ और नये चिन्तन हुए। जीव, जगत् और ब्रह्मविषयक जिन गूढ़ ग्रन्थियों का समाधान एवं महती जिज्ञासाओं का स्पष्टीकरण इस युग में हुआ वैसा संसार के इतिहास में आज तक नहीं दिखाई देता।

यद्यपि उपनिषद् भी वेद-वचनों को ही सम्बल रखकर आगे बढ़े, तथापि वेदों और उपनिषदों में जीवन की शाश्वत् मान्यताओं के प्रति अपने-अपने ढङ्ग से विचार किया गया है। वैदिक युग आनन्द और उल्लास का युग रहा है। इसलिए आत्मा, पुनर्जन्म और कर्मफलवाद की चिन्तनायें न तो वेदों में वर्णित है और न ही उन पर विचार करने की आवश्यकता वैदिक ऋषियों ने आवश्यक समझी। आत्मा और शरीर की पृथक्ता का विचार वेदों में अवश्य है, किन्तु आत्मा का आवागमन उनमें नहीं बताया गया है। यह विषय उपनिषद् ग्रन्थों के आविर्भाव के बाद उठाया गया और इस पर भरपूर प्रकाश भी उपनिषद्-ग्रन्थों में ही डाला गया। इस दृष्टि से वेद और उपनिषद् परस्पर सर्वथा विरोधी सिद्धान्तों को मानने वाले सिद्ध होते हैं। वेदों के आनन्दमय और प्रेममय जीवन में निरानन्द और उदासी का वातावरण तथा वेदों के निश्चित और स्वछन्द जीवन में चिन्ता और भय का उदय उपनिषद्-ग्रन्थों की अवतारणा के बाद आरम्भ होता है। जन्म, मरण, संन्यास और वैराग्य की भावनाओं का सूत्रपात उपनिषद् ग्रन्थों से प्रारम्भ होता है।

वैदिक साहित्य के विधायक संहिताओं, ब्राह्मण और उपनिषद्–इन तीनों विषयों के मूल में हमें उनकी सर्वथा असमान प्रवृत्तियों का अभास मिलता है। संहिताओं के प्रमुख उद्देश्य की सीमाओं में न तो ब्राह्मण ग्रन्थ ही रहे और न उपनिषद् ही। इसी प्रकार एक ही मूल उद्गम से उद्भूत ब्राह्मण ग्रन्थों और उपनिषद् ग्रन्थों की दो विचारधाराएँ भी सर्वथा विरोधी मार्ग की अनुगामिनी रही है। उदाहरण के लिए मन्त्र का नाम पहिले ब्रह्म था। पीछे ब्रह्मा उसे कहने लगे जो वेदी के समीप बिठाया जाता था और पीछे चलकर ब्रह्मा सृष्टि के अध्यक्ष का वाचक हो गया।

धर्म की जिस व्यापक भावना को लेकर वैदिक संहिताएँ चलीं, ब्राह्मण ग्रन्थों ने उसको एकाङ्गी, सङ्कुचित और सर्वथा व्यक्तिगत रूप दे दिया। कर्मकाण्ड

का प्राण ब्राह्मण-ग्रन्थों ने धर्म के जिस स्थूल पक्ष का प्रतिपादन किया, उसके सर्वथा विपरीत ज्ञानकाण्ड प्रधान उपनिषद् ग्रन्थों ने धर्म के सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्वरूप पर विचार किया। धर्ममीमांसा के सम्बन्ध में दोनों युगों का अलग-अलग दृष्टिकोण रहा है। ब्राह्मण-काल वैदिक धर्म की अवनति का समय और उपनिषद् काल वैदिक धर्म की चरमोन्नति का समय रहा है।

उपनिषद् युग विचार-क्रान्ति का सङ्घर्षमय युग रहा है। वेदों के उन्मुक्त एवं भावनाप्रधान ऋषियों को उपनिषद् युग में हम गम्भीर चिन्तन और एकाग्र मनन में लगे हुए पाते हैं। उपनिषद् युग की इस विचारधारा और भारत की तत्कालीन बौद्धिक-क्रान्ति के सम्बन्ध में दिनकर जी का कथन है कि उतने प्राचीन काल में ऐसा प्रचण्ड चिन्तन सोचकर हृदय निस्तब्ध रह जाता है। इस प्रचण्ड चिन्तन की अनेक विधियों का विकास आगे चलकर षड्-दर्शनों में दिखाई देता है। उपनिषद्-ग्रन्थों के ही ज्ञान-सूत्रों की व्याख्या दर्शन ग्रन्थों का प्रतिपाद्य विषय है। शङ्कर, मध्य और श्रीरामानुजाचार्य का क्रमशः अद्वैत, द्वैत और विशिष्टाद्वैत उपनिषद्-ज्ञान के ही विभिन्न पक्ष हैं, जिनसे दर्शनों का जन्म हुआ।

बृहद् वैदिक साहित्य में आरण्यक ग्रन्थों के बाद उपनिषद्-ग्रन्थों का क्रम आता है और यहीं पर वैदिक साहित्य की सीमा टूटकर अलग हो जाती है। उपनिषद् वैदिक साहित्य के अन्तिम भाग होने के कारण वेदान्त के नाम से प्रसिद्ध है। उपनिषद् ग्रन्थों में आत्मज्ञान, मोक्षज्ञान और ब्रह्मज्ञान की प्रधानता होने के कारण उनको आत्मविद्या, मोक्षविद्या और ब्रह्मविद्या भी कहा जाता है।

वेदान्त-दर्शन के तीन प्रस्थान हैं—उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र। उपनिषद् श्रवणात्मक, गीता निदिध्यासनात्मक और ब्रह्मसूत्र मननात्मक है। उप + नि इन दो उपसर्गों के साथ 'सद्' धातु से क्विप प्रत्यय जोड़ देने के बाद उपनिषद् शब्द व्युत्पन्न होता है। सद् धातु अनेकार्थक है। विशरण (विनाश), गति (ज्ञानप्राप्ति) और अवसान (शिथिल, समाप्ति) उसके कई अर्थ हैं। इन सभी अर्थों की सङ्गति उपनिषद् शब्द के साथ बैठ जाती है। इस दृष्टि से उपनिषद् शब्द का अर्थ हुआ जो विद्या समस्त अनर्थों को उत्पन्न करने वाले सांसारिक क्रिया-कलापों का नाश करती है, जिससे संसार की कारणभूत अविद्या के बन्धन शिथिल पड़ जाते हैं या समाप्त हो जाते हैं और जिसके द्वारा ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होती है, वही उनषिद् विद्या उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय है। अथवा उप (व्यवधानरहित), नि (सम्पूर्ण), षट् (ज्ञान) के प्रतिपादक ही उपनिषद् हैं, अर्थात् वह सर्वोत्तम ज्ञान, जो ज्ञेय से अभिन्न, देश, काल, वस्तु के परिच्छेद से रहित, परिपूर्ण ब्रह्म का बोधक है; क्योंकि ज्ञान स्वतः प्रमाण, स्वयं प्रकाश देशकालावधि परिच्छिन्न रहित विषय परिच्छेद रहित, कर्तृत्व-ज्ञेयत्व-भेदातीत, हेतुफलात्मक, शून्य, अबाध्य, अनिर्वचनीय है। अत एव ऐसे ज्ञान के प्रतिपादक उपनिषद् भी तद्वद्विशिष्ट है। आप्टे महोदय कृत संस्कृत अंग्रेजी-कोष में उपनिषद् शब्द की व्युत्पत्ति पर प्रकाश डाला गया है। आप्टे साहब के अनुसार उपनिषद् शब्द स्त्रीलिङ्ग है। उसकी व्युत्पत्ति उप + नि + पूर्वक सद् (बैठना) धातु से हुई है। इसका अर्थ वह ज्ञान है जो गुरु के चरणों के समीप बैठकर प्राप्त किया जाता है। किन्तु भारत के अधिकृत विद्वानों के मतानुसार उपनिषद् का निर्वचन इससे कुछ भिन्न, ब्रह्मज्ञान के उपदेश के द्वारा अविद्या का नाश कर सांसारिक जीवनरूपी बन्धन का उच्छेद करता है। शङ्कराचार्य के मतानुसार आत्मविस्मृतिपूर्वक श्रद्धा और भक्ति के साथ जो लोग ब्रह्मविद्या को प्राप्त करते हैं, उनके गर्भवास, जन्म-मरण बुढ़ापा और राग आदि अनर्थों का जो नाश करती है तथा ज्ञेय ब्रह्म को प्राप्त कराती हुई, उनकी अविद्या आदि को जो संसार का कारण है, समूल नष्ट करती है, वह उप + नि + पूर्वक सद् धातु का ऐसा अर्थ स्मरण होने से उपनिषद् है।

०००००

वैकुण्ठवासी श्रीस्वामी पराङ्कुशाचार्य जी महाराज द्वारा निर्मित प्रार्थनात्मक पद्य

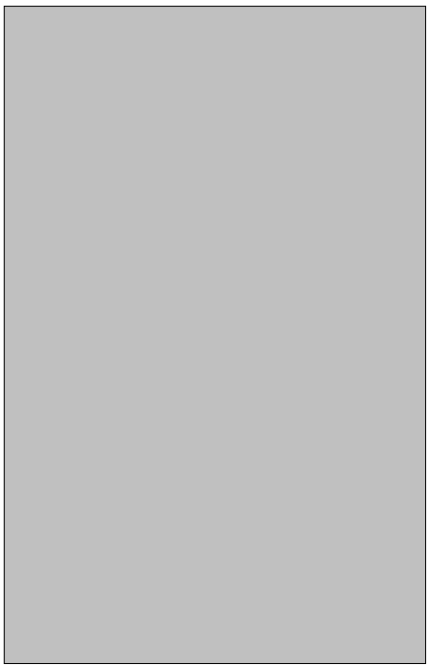

प्रभो पापियों को बनाते न आते-
तो पावन सुयश तुम कभी भी न पाते।
सभा मध्य में वह जो गाली सुनाया।
सो शिशुपाल को आप तन में मिलाया
तथा व्याध को भी विधाते के नाते।।१।।
तरी वह गणिका सदन और अजामिल
किया घोर जो पाप सो काहु न माना।
बचा नर्क से एक नामो के नाते।।२।।
तुम्हें बक बकी कंस भी मारने को।
किया था यतन तु मति सी तारने को
किये हो यतन एक बैरी के नाते।।३।।
गौतम त्रिया जो प्रिया पाप की थी।
वह पत्थर बनी आई भू पर परी थी।
उसे तुम सुधारे मुनी को दिखाते।।४।।
दयालो सदा तुम दया वस में होकर।
जटायु उबारे हो पापों के नाते।
हैं भक्त तुम्हारे इसी गुण को गाते।।५।।
यही चाल की एक आशा हमारी।
न जायेंगे कभी भी किसी के दुवारी।
और तुमसे तरेंगे ही चरणों में आते।।६।।

हे प्रभो! आप पापियों को कल्याण नहीं करते तो, आप संसार में पवित्र सुयश कभी नहीं प्राप्त करते अर्थात् संसार में आपका सुयश पापियों को उद्धार करने से ही हुआ है। राजा युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ होने जा रहा था, उस अवसर पर यज्ञ में, सर्वप्रथम पूजा किसकी हो, यह प्रश्न उत्पन्न होने पर सबों ने भगवान श्रीकृष्ण का प्रथम पूजन का समर्थन किया। उनकी प्रथम पूजा हुई। उस सभा में शिशुपाल उपस्थित था, उसने कहा कि जिस सभा में बड़े-बड़े ज्ञानी, ब्राह्मण, महात्मा उपस्थित हैं वहाँ उनकी पूजा न होकर प्रथम पूजा श्रीकृष्ण की हो, यह अनुचित है। यह कहकर वह भगवान को गाली देने लगा। अन्य जो भगवान के भक्त वहाँ उपस्थित थे, वे यह सोचकर हट गये कि 'जहाँ भगवान एवं गुरु की निन्दा होती है, वहाँ नहीं रहना चाहिए'। भगवान श्रीकृष्ण शिशुपाल की गाली को गिन रहे थे। जब एक सौ (१००) से अधिक गाली देने लगा तो भगवान ने उसका गला चक्र से काट दिया। उस समय शिशुपाल का तेज भगवान में प्रवेश कर गया।

(शिशुपाल भगवान का फुफेरा भाई लगता था। उसे जन्म काल में तीन नेत्र एवं चार भुजायें थीं, ऐसा देखकर उसके माता-पिता उसे फेंक देना चाहते थे; परन्तु आकाशवाणी हुई कि इसे मत फेंको, यह बड़ा प्रतापी राजा होगा। जिसकी गोद में इसको रख देने पर जब एक नेत्र तथा दो भुजायें समाप्त हो जायेंगी, तब तुम समझना कि उसी से इसकी मृत्यु होगी। भगवान कृष्ण और बलदेव जी शिशुपाल को देखने के लिये गये थे। जब उसकी माँ ने उसे बलदेव जी की गोद में रखा तब उसकी एक आँख तथा दो भुजायें समाप्त नहीं हुई, जब श्रीकृष्ण की गोद में रखा तब शिशुपाल की एक आँख और दो भुजायें समाप्त हो गईं। तदनन्तर

शिशुपाल की माँ ने श्रीकृष्ण से कहा कि तुम इसे मारना मत। भगवान श्रीकृष्ण ने कहा कि इसे एक सौ (१००) अपराध तक क्षमा कर दूँगा और उससे अधिक करने पर मैं इसे मार डालूँगा। इसलिए एक सौ से अधिक गलत करने पर भगवान ने उसका (गला) काट लिया)।

शिशुपाल वैरभाव से भगवान श्रीकृष्ण का रूप अपने हृदय में धारण कर लिया था। इसलिए उसकी मुक्ति हो गई। इसी भाव से आचार्य जी ने लिखा है—

सभा मध्य में वह जो गाली सुनाया।
सो शिशुपाल को आप तन में मिलाया।।

भगवान श्रीकृष्ण वैकुण्ठ जाने की इच्छा से एक पीपल वृक्ष के तले अपनी दाहिनी जाँघ पर बायाँ चरण रखकर बैठे हुये थे। लाल-लाल तलवा रक्त कमल के समान चमक रहा था। जरा नाम का एक व्याध मूसल के बचे हुए लौह टुकड़े को ही बाण की तरह प्रयोग किया और उसने दूर से भगवान का लाल-लाल तलवा को हरिन के जीभ समझकर उसी बाण से बींध दिया। जब वह भगवान के पास आया तो उसने चतुर्भुज पुरुष देखा। वह देखकर डर गया और काँपने लगा। उसने भगवान का स्तवन किया और उनसे क्षमा माँगी। भगवान ने कहा तुम डरो मत, यह तो तुमने मेरे मनोनुकुल काम किया है। जाओ तुम मेरी आज्ञा से उस स्वर्ग में निवास करो, जिसकी प्राप्ति बड़े-बड़े पुण्यात्माओं को होती है। भगवान के आदेश से जरा व्याध कृष्ण का तीन बार परिक्रमा करके विमान पर बैठा और स्वर्ग चला गया। इसीलिए श्रीस्वामी जी ने कहा है—

तथा व्याध को भी विधाते के नाते।

अर्थात् व्याध ने भगवान का वध किया, उस नाते भगवान ने उसे मुक्त कर दिया। गणिका, सदन और अजामिल–इन तीनों ने घोर पाप किया था। भगवान उन पापों पर ध्यान न देकर, एक बार नाम उच्चारण के नाते उन सबों का कल्याण कर दिये, उन्हें नरक नहीं जाना पड़ा। कंस ने भगवान को मारने के लिये बहुत प्रयत्न किया; परन्तु भगवान ने उसका भी कल्याण कर दिया।

गौतम की पत्नी अहल्या थी। अहल्या ब्रह्मा की पुत्री थी। उन्होंने जितेन्द्रिय समझकर अपनी कन्या अहल्या का विवाह गौतम से कर दिया था। अहल्या के सौन्दर्य से मुग्ध होकर देवराज इन्द्र चाहते थे कि उसका विवाह मेरे साथ हो; परन्तु इन्द्र को इन्द्रिय लोलुप समझकर ब्रह्मा ने अहल्या का विवाह इन्द्र के साथ नहीं किया। इन्द्र इस ताक में लगे रहते थे कि अहल्या के साथ समागम करूँ। एक दिन प्रात: चार बजे गौतम नदी में स्नान करने गये। उसी समय इन्द्र गौतम का रूप बनाकर अहल्या के साथ समागम किया। गौतम स्नान करके उसी समय पहुँच गये, उन्होंने इन्द्र को शाप दे दिया कि तुम 'परनारी' गमन का पाप किये हो, अत: तुम अण्डकोष रहित हो जाओ। पुन: अहल्या को शाप दिया कि तू 'पाषाण' के रूप में हजारों वर्ष तक रहेगी। जब राजा दशरथ के पुत्र श्रीराम यहाँ पर आयेंगे और उनके चरणों से जब तुम्हारा स्पर्श होगा, तब तुम शापमुक्त हो जायेगी। विश्वामित्र के साथ जनकपुर जाते समय जब गौतम के आश्रम पर भगवान श्रीराम पहुँचे तब विश्वामित्र ने श्रीराम से कहा—

गौतम नारी शाप बस उपल देह धरी धीर।
चरण कमल रज चाहती, कृपा कुरु रघुवीर।।

आप अपने चरण से इसे स्पर्श करा दें। अत: भगवान के चरण से स्पर्श होने पर अहल्या का उद्धार हो गया। अत एव आचार्य जी ने कहा है—

गौतम त्रिया जो प्रिया पाप की थी।
वह पत्थर बनी आई भू पर परी थी।
उसे तुम सुधारे मुनी को दिखाते।।४।।
दयालो सदा तुम दया वस में होकर।

आपने गिद्धराज जटायु का उद्धार किया। आपने अहल्या आदि का उद्धार किया है, उसी गुण का गान भक्त लोग करते रहते हैं। पापियों के उद्धार करने की जो प्रवृत्ति है उससे आशा है कि आप मेरा भी उद्धार कर देंगे, अब आपके चरणों को छोड़कर मैं किसी दूसरे के पास नहीं जाऊँगा। आपके चरणों से ही मेरा भी कल्याण अवश्य होगा। यह मेरा पूर्ण विश्वास है।

०००००

ऊर्ध्वपुण्ड्रतिलक अवश्य धारण करें

युक्तिप्रमाणाभ्यां हि वस्तुसिद्धि ।

किसी भी धर्मानुष्ठान का अन्तिम निर्णय वेद ही कर सकता है। इस सिद्धान्त को मानव आज समझे या ठोकर खाने पर शताब्दियों के बाद समझे। वेद में जो धार्मिक विधान हैं वे निष्फल नहीं है, बल्कि उनसे ऐहिक उन्नति और पारलौकिक फल अवश्य ही प्राप्त होते हैं। वेदादि शास्त्रों द्वारा यह प्रमाणित है कि वेद-विहित कर्म करने से और वेद-निषिद्ध-कर्म परित्याग से दृष्ट (प्रत्यक्ष) और अदृष्ट (परोक्ष) ये दो प्रकार के फल मिलते हैं। संसार में जिन फलों का अनुभव, घ्राण, रसना, चक्षु, त्वचा और श्रोत्र इन बाह्य इन्द्रियों से हो सकता है, वे दृष्ट फल हैं।

जिन फलों का बाह्य इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष नहीं होता है उन्हें अदृष्ट फल कहते हैं। अदृष्ट फलों का साक्षात्कार ***'दृश्यते त्वग्र्या बुद्ध्या'*** के अनुसार समाधि-निष्ठ योगियों को होता है। अत एव मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने समाधिस्थ होकर धर्म का साक्षात्कार करके स्मृति ग्रन्थों में उनका और उनके फलों का विशद निरूपण किया है। कुछ लोग मूर्खता, कलियुग के कुप्रभाव, पठन-पाठन की कमी, नास्तिकता, रोटी के ही प्रश्न में उलझे रहने तथा आलस्य दोष के कारण धर्म के अदृष्ट फल में आस्था नहीं रखते हैं; परन्तु इससे अदृष्ट फलों का अभाव नहीं हो सकता।

ऊर्ध्वपुण्ड्रतिलक धारण से दृष्ट तथा अदृष्ट ये दोनों प्रकार के फल दिखलाये जायेंगे। यह सर्वविदित एवं सत्पुरुष अनुमोदित सिद्धान्त है कि मानव जीवन का चरम उद्देश्य ब्रह्म प्राप्ति है। ब्रह्म प्राप्ति के लिए उपासना परममावश्यक है; क्योंकि उपासना के बिना ब्रह्म की प्राप्ति नहीं होती है। उपासना का अर्थ भक्ति है। नारदसंहिता के अनुसार ऊर्ध्वपुण्ड्र-तिलक उसका एक प्रधान अङ्ग है।

अर्चनाङ्गं ब्रवीत्यन्या ऊर्ध्वपुण्ड्रं तथा श्रुति ।

ऊर्ध्वपुण्ड्रतिलक अर्चना का अङ्ग है ऐसा श्रुति बतलाती है। बिना तिलक के जो कर्म किया जाता है वह निष्फल होता है।

जनेऊ, शिखाबन्धन एवम् ऊर्ध्वपुण्ड्रतिलक के बिना समस्त कर्म निष्फल होते हैं।

नित्य, नैमित्तिक, काम्य, लौकिक तथा वैदिक जितने कर्म करने के लिए शास्त्रों में बतलाये गये हैं उन सबों के तिलक धारण पूर्वक कर्म करने से ही सिद्धि मिलती है, अन्यथा सब निष्फल होते हैं। यज्ञ, दान, दान, तप, होम, पितृ-देव-ऋषि-तर्पण आदि सभी क्रियाओं की सफलता ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक पर ही आधारित है।

ऊर्ध्वपुण्ड्रतिलक लगाने वालों को भूत-प्रेत, पिशाच, कुष्माण्ड, ब्रह्माण्ड, ब्रह्मराक्षस, रेवती, डाकिनी, गुह्यक तथा दुष्ट ग्रहों से किसी प्रकार की हानि नहीं होती है; क्योंकि ऊर्ध्वपुण्ड्रतिलक लगाने वाले वैष्णवों के पास उपर्युक्त प्रेतादि पहुँचते ही नहीं। अत: इससे सिद्ध होता है कि दुष्टों से अपनी रक्षा के लिए भी तिलक धारण करना चाहिए।

संसार में मनुष्य पुण्य और पाप के कारण ही सुख-दु:ख भोगता है। यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि पुण्य के बिना सुख नहीं होता है और पाप के बिना दु:ख नहीं होता है। पुण्य सुख का जनक है तथा पाप दु:ख का। जैसे–कारण के बिना कार्य सम्भव नहीं है, वैसे ही पुण्य और पाप के बिना सुख-दु:ख सम्भव नहीं है; क्योंकि इनमें कार्य-कारण भाव है। **शेष पृ० २५ पर**

संस्कार

जीवगत पापों को दूर करने के लिए वेदों तथा त्रिकालदर्शी तत्त्ववेत्ता ऋषियों ने संस्कार का विधान किया है। संस्कार का अर्थ होता है—दुर्गुणों (जीवगत मैलों) को हटाकर अच्छे गुणों को उत्पन्न कर देना। संस्कार से जीवात्मा में उत्तम गुण आते हैं। उनके दुर्गुणों तथा पापों का नाश हो जाता है।

संस्कारों की गणना में मतभेद है। कुछ लोगों ने ४० संस्कारों को माना है और कुछ लोगों ने ४८। परन्तु व्यास स्मृति के अनुसार १६ संस्कार ही होते हैं। ४८ एवं ४० संस्कार संख्या लिखने वालों के संस्कार सोलह संस्कार में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं। अत: प्रधान सोलह संस्कार ही हैं। सोलह संस्कार ये हैं—१. गर्भाधान, २. पुंसवन, ३. सीमन्तोन्नयन, ४. जातकर्म, ५. नामकरण, ६. निष्क्रमण, ७. अन्नप्राशन, ८. चूड़ाकरण (मुण्डन), ९. कर्णवेध, १०. उपनयन, ११. वेदारम्भ, १२. केशान्त, १३. समावर्तन, १४. विवाह, १५. स्मार्त अग्नि का आधान और १६. श्रौत अग्नि का आधान। अन्त्येष्टि कर्म श्रौत अग्नि साध्य है, अत: उसी में आ जाता है।

लोगों के लिए दुर्भाग्य का विषय यह है कि गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म आदि संस्कारों की तरह नामकरण संस्कार भी उपेक्षित हो गया है। अपने सनातन धर्म के अनुसार पुत्रों तथा पुत्रियों के नाम रखने में गौरवहीनता का अनुभव करते हैं। लोगों की यही धारणा हो गयी है कि कोई एक संज्ञा रख देनी चाहिए, उससे उत्तम अर्थ की अभिव्यति हो या नहीं और वह चाहे किसी भी भाषा का शब्द हो; यह भावना हमारे हिन्दूओं के लिए अध:पतन का कारण है। अंग्रेजों तथा मुसलमानों के राज्यकाल में अंग्रेजी तथा उर्दू के साथ ऐसा सम्बन्ध हो गया कि मालूम पड़ता है कि इसके गुलाम बन गये नाकरण संस्कार के समय अपने को ऋषिवंशज न समझकर अंग्रेजों तथा मुसलमानों के परम शिष्य बन जाते हैं।

इसका प्रत्यक्ष उदाहरण वर्तमान कालीन हिन्दुओं के नाम ही हैं। प्राय: शिक्षित लोग जो अपने को महान विद्वान् समझते हैं, वे भी अपने बालकों को पप्पु, टुनटुन, मुन्ना, डब्लू, बब्लू आदि नामों से पुकारते हैं। न जाने नाकरण संस्कार के समय उनकी विद्वता कहाँ चली जाती है। जब शिक्षित व्यक्ति ही नामकरण संस्कार के महत्त्व को नहीं समझता है, तो अशिक्षित व्यक्ति कैसे समझ सकता। अशिक्षित व्यक्ति तो शिक्षितों का अनुकरण करता है। आज एक भी मुसलमान या अंग्रेज उर्दू या अंग्रेजी भाषा रहित अपने पुत्रों या कन्याओं का नाम नहीं रखते। कोई भी व्यक्ति ऐसा उदाहरण नहीं दे सकता है कि किसी मुसलमान या अंग्रेज का नाम हिन्दी या संस्कृत भाषा से सम्बन्धित रखा गया हो। मुसलमानों तथा अंग्रेजों के नाम लेने पर ही स्पष्ट हो जाता है कि ये मुसलमान हैं या अंग्रेज; परन्तु हिन्दुओं के नाम लेने से यह पता नहीं चलता है कि ये कौन हैं? प्राचीन काल के इतिहास में जितने हिन्दुओं के नाम आये उनसे स्पष्ट हो जाता है कि सब सनातन धर्म से सम्बन्धित थे। नामकरण संस्कार के समय में अच्छे ज्योतिषी विद्वान् बुलाये जाते थे जो कर, कुण्डली तथा कपाल पर विचार करके नाम रखते थे। जिसमें जैसे गुण या दोष रहने की सम्भावना रहती थी। उसी तरह के नाम रखे जाते थे। अत: नाम के अनुसार ही उनमें गुणदोष परिलक्षित होते थे।

अत: नाम से ही हम समझ जाते हैं कि अतीतकाल में कौन व्यक्ति कैसा था। जैसे–राम-रावण, कृष्ण-कंस, दुर्योधन-युधिष्ठिर इत्यादि।

सूती घर से चतुर्थ मास में बालक को बाहर निकालने को निष्क्रमण कहते हैं। प्रथम बार अन्न

खिलाने को अन्नप्राशन कहते हैं। यह संस्कार बालक को छठे मास में और कन्या को पञ्चम मास में किया जाता है।

प्रथम या तृतीय वर्ष में चूड़ाकरण संस्कार होता है। चूड़ाकरण का अर्थ चोटी या शिखा है। जन्म लेने पर शिर के सारे बाल समान रहते हैं। शिर पर शिखा भर बाल छोड़कर शेष केश कटवा दिये जाते हैं। चूड़ा (शिखा) रखने के कारण ही इस संस्कार का नाम चूड़ाकरण है। कुछ लोग चूड़ाकरण का अर्थ न जानने के कारण मुण्डन के समय सभी केशों को कटवा देते हैं। ऐसी भूल कभी नहीं करनी चाहिए। ज्ञान न रहने के कारण समझते हैं कि केश अपवित्र होता है। अत: सब कटवा देना चाहिए; परन्तु यह सबसे बड़ी भूल है। गर्भस्थ केशों को अपवित्र होने के कारण चूड़ाकर्म नहीं होता है, बल्कि गर्भस्थ केशों के समान होने से शिखा भर केश को छोड़कर सबों को कटवाकर शिखावान् बनाया जाता है। शिखा धारण से एक महान् लाभ यह है कि शिर पर शिखा बाँधकर जो भी पुण्यकर्म करते हैं, वह पूर्ण सफल होता है। शिाखाविहीन व्यक्तियों के द्वारा किये हुए सारे धार्मिक कर्म निष्फल होते हैं—

सदोपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन च।
विशिखो व्युपवीतश्च यत्करोति न तत्कृतम्।।

अर्थात् धार्मिक कर्मों में सदा यज्ञोपवीत और शिखा बन्धी हुई रहनी चाहिए। विना शिखा और यज्ञोपवीत के माङ्गलिक कर्म व्यर्थ हो जाते हैं।

आज विज्ञान से भी यह बात सिद्ध हो गई है कि शिर की शिखा बाहरी बिजली पड़ने से रोकने और अन्तर्बिजली के स्तम्भन कर शरीर को सकुशल रखती है।

o o o o

पृ० २३ का शेष

मानव पाप के कारण विभिन्न तरह का क्लेश अनुभव कर रहा है। संसार में सुख की चाह सभी को होती है। दु:ख कोई नहीं चाहता है। कर्म भले ही विपरीत करते हों, पर फल तो सब लोग अच्छे ही चाहते हैं।

पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं नेच्छन्ति मानवः।
न पापफलमिच्छन्ति पापं कुवन्ति यत्नतः।।

पुण्य का फल सुख है उसे सब चाहते हैं, पर पुण्य करना कोई नहीं चाहता। पाप का फल दु:ख है उसे कोई नहीं चाहता पर पाप यत्नपूर्वक करता है, जैसा कि संसार में देखा जा रहा है सत्य, अहिंसा, दया, परोपकार, पूजा, पाठ आदि में लोगों का मन नहीं लगता है। उसकी जगह पर असत्य, हिंसा, स्वार्थ, दुराचार, व्यभिचार, भ्रष्टाचार, जुआ, तास, मदिरापान आदि बुरे कर्मों को परिश्रम से तथा छिपाकर भी करते हुए पाये जा रहे हैं। जिसके परिणाम स्वरूप आज जगत् के अधिकांश लोग दु:ख और अशान्त हैं। जगत् में अगर कोई सुख तथा शान्ति पाना चाहता है तो उसका प्रथम कर्त्तव्य पाप विनाश के लिए उपाय करना है। उन उपायों में सर्वप्रथम उपाय ऊर्ध्वपुण्ड्रतिलक धारण करना है।

केवलस्योर्ध्वपुण्ड्रस्य धारणादपि मानवः।
देहजैः पापसङ्घातैर्मुच्यते नात्र संशयः।।

अर्थात् केवल ऊर्ध्वपुण्ड्रतिलक धारण करने से मानव शरीर से उत्पन्न पाप-समूहों से छूट जाता है, इसमें सन्देह नहीं। इसका भाव यह है कि समस्त पाप-कर्मों का परित्यागकर केवल तिलक ही निष्ठा-पूर्वक धारण करते रहें तब भी पाप नष्ट हो जाते हैं।

o o o o

स्वामी रामानुजाचार्य का सिद्धान्त एवं भगवत्प्रेम

श्रीरामानुजाचार्य जी शेषावतार थे। उनका सिद्धान्त विशिष्टाद्वैत नाम से प्रसिद्ध है। इस सम्प्रदाय की परम्परा में सर्वप्रथम आचार्य नारायण माने जाते हैं। उन्होंने निजस्वरूपा शक्ति श्रीमहालक्ष्मी जी को श्रीनारायणमन्त्र का उपदेश दिया, उनसे यह उपदेश विष्वक्सेन जी को प्राप्त हुआ और आगे नाथमुनि आदि की परम्परा में वही उपदेश श्रीयामुनाचार्य जी को प्राप्त हुआ। ये ही यामुनाचार्य जी श्रीरामानुज के परमगुरु थे। इस प्रकार इस विशिष्टाद्वैत भक्तिसिद्धान्त में श्रीनाथमुनि, यामुनाचार्य तथा रामानुजाचार्य तीन आचार्य विशेष प्रसिद्ध हुए जो मुनित्रय कहलाते हैं।

यामुनाचार्य जी आलवन्दार भी कहलाते हैं। उनका आलवन्दार स्तोत्र प्रपत्तिमार्ग का अनूठा स्तोत्र है। अत: यह स्तोत्ररत्न नाम से भी प्रसिद्ध है।

श्रीरामानुजाचार्य जी ने भक्तिमार्ग का प्रचार करने के लिये सारे भारत की यात्रा की और गीता तथा ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखा। वेदान्तसूत्रों पर इनका भाष्य 'श्रीभाष्य' के नाम से प्रसिद्ध है और इनका समप्रदाय भी श्रीसम्प्रदाय कहलाता है; क्योंकि इस सम्प्रदाय की आद्यप्रवर्त्तिका श्रीमहालक्ष्मी जी मानी जाती हैं।

श्रीरामानुज के सिद्धान्त के अनुसार भगवान ही पुरुषोत्तम हैं वे ही प्रत्येक शरीर में साक्षीरूप में विद्यमान हैं। वे जगत् के नियन्ता, शेषी (अवयवी) एवं स्वामी हैं और जीव उनका नियम्य, शेष तथा सेवक हैं। अपने व्यष्टि अहङ्कार को सर्वथा हटाकर भगवान की सर्वतोभावेन शरण ग्रहण करना ही जीव का परम पुरुषार्थ है। भगवान लक्ष्मी-नारायण जगत् के माता-पिता और जीव उनकी सन्तान हैं। माता-पिता का प्रेम और उनकी कृपा प्राप्त करना ही सन्तान का धर्म है। वाणी से भगवान नारायण के नाम का ही उच्चारण करना चाहिये और मन-वाणी एवं शरीर से उनकी सेवा करनी चाहिये। श्री-भू-लीला महादेवियों के सहित भगवान नारायण की सेवा प्राप्त होना ही परम पुरुषार्थ है। भगवान के इस दासत्व की प्राप्ति ही मुक्ति है। भगवान् अनन्त गुणगणावली से समन्वित हैं। वे सृष्टिकर्त्ता, कर्म-फलप्रदाता, नियन्ता सर्वान्तर्यामी, अपार कारुण्य, सौशील्य, वात्सल्य, औदार्य, ऐश्वर्य और सौन्दर्य आदि अनन्तानन्त सद्गुणों के महासागर हैं।

ईश्वर का स्वरूप पाँच प्रकार का है—पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चा। श्रीभगवान शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी चतुर्भुज हैं। श्री-भू-लीलासहित समस्त दिव्याभूषणों से भूषित हैं। वे भक्तों के प्रेमानन्द में सदा निमग्न रहते हैं। आचार्य के अनुसार न्यासविद्या ही प्रपत्ति है। अनुकूलता का सङ्कल्प, प्रतिकूलता का त्याग, भगवान में सम्पूर्ण आत्मसमर्पण–सब प्रकार से केवल भगवान के शरण हो जाना ही प्रपत्ति है। अत: सर्वस्व निवेदनरूप शरणागत भक्ति ही भगवान् की प्रसन्नता का प्रधान साधन है। शरणागत भक्त को करुणामय भगवान अपना विशिष्ट प्रेम प्रदान कर कृतार्थ कर देते हैं। आचार्य रामानुज ने दैन्यभाव की प्रतिष्ठा की है। आपने अपने शरणागतिपद्य, श्रीरङ्गगद्य तथा वैकुण्ठगद्य (गद्यत्रय) में प्रेमाभक्ति का निचोड़ लाकर रख दिया है।

आचार्य स्वयं कहते हैं—भगवान मेरे नित्य स्वामी हैं और मैं उनका नित्य दास हूँ। मैं कब अपने कुल के स्वामी, देवता और सर्वस्व भगवान नारायण का जो मेरे योग्य, दाता पिता और मेरे सब कुछ हैं, इन नेत्रों द्वारा दर्शन करूँगा। मैं कब भगवान् के युगलचरणारविन्दों को अपने मस्तक पर

धारण करूँगा? कब वह समय आयेगा जब मैं भगवान के दोनों चरणारविन्दों की सेवा की आशा से अन्य सभी भोगों की आशा-अभिलाषा छोड़कर समस्त सांसारिक भावनाओं से दूर हो भगवान के युगल-चरणारविन्दों में प्रवेश कर जाऊँगा। कब ऐसा सुयोग प्राप्त होगा, जब मैं भगवान के युगल चरणकमलों की सेवा के योग्य होकर उन चरणों की आराधना में ही लगा रहूँगा। कब भगवान् नारायण अपनी अत्यन्त शीतल दृष्टि से मेरी ओर देखकर स्नेहयुक्त, गम्भीर एवं मधुर वाणी द्वारा मुझे अपनी सेवा में लगने का आदेश देंगे।

आचार्य पुनः प्रार्थना करते हैं—हे प्रभो! मैं पिता, माता, स्त्री, पुत्र, बन्धु, मित्र, गुरु, रत्नराशि, धन-धान्य, खेत, घर, सारे धर्म और अविनाशी मोक्षपदसहित सम्पूर्ण कामनाओं का त्यागकर समस्त ब्रह्माण्ड के आक्रान्त करने वाले आपके दोनों चरणों की शरण में आया हूँ—

पितरं मातरं दारान् पुत्रान् बन्धून् सखीन् गुरून्।
रत्नानि धनधान्यानि क्षेत्राणि च गृहाणि च।।
सर्वधर्मांश्च संत्यज्य सर्वकामांश्च साक्षरान्।
लोकविक्रान्तचरणौ शरणं तेऽव्रजं विभो।।

(शरणागतिपद्यम्)

उनका कहना है कि पूर्णकाम, सत्यसङ्कल्प, परब्रह्मस्वरूप पुरुषोत्तम, हे महान् ऐश्वर्य से युक्त श्रीमन्नारायण! हे वैकुण्ठनाथ! आप अपार करुणा, सुशीलता, वत्सलता, उदारता, ऐश्वर्य और सौन्दर्य आदि गुणों के महासागर हैं, छोटे-बड़े का विचार न करके समान्यतः सभी लोगों को आप शरण देते हैं, प्रणतजनों की पीड़ा हर लेते हैं। शरणागतों के लिये तो आप वत्सलता के समुद्र ही हैं। आप सदा ही समस्त भूतों की यथार्थता का ज्ञान रखते हैं। सम्पूर्ण चराचर भूतों के सारे नियमों और समस्त जड़-चेतन वस्तुओं के आप अवयवी हैं (ये सभी आपके अवयव हैं)। आप समस्त संसार के आधार हैं, अखिल जगत् तथा हम सभी लोगों के स्वामी हैं। आपकी कामनाएँ पूर्ण और आपका सङ्कल्प सच्चा है। आप समस्त प्रपञ्च से भिन्न और विलक्षण हैं। याचकों के तो आप कल्पवृक्ष हैं, विपत्ति में पड़े हुए के सहायक हैं। ऐसी महिमा वाले तथा आश्रयहीनों को आश्रय देने वाले हे श्रीमन्नारायण! मैं आपके चरणारविन्दयुगल की शरण में आया हूँ; क्योंकि उनके सिवा मेरे लिये कहीं भी शरण नहीं है।

श्रीरङ्गनाथ स्वामी से अपना प्रेम निवेदन करते हुए वे उनसे अपना दास्य-भाव देने की प्रार्थना करते हुए कहते हैं—

तवानुभूतिसम्भूतप्रीतिकारितदासताम्।
देहि मे कृपया नाथ न जाने गतिमन्यथा।।

(श्रीरङ्गगद्यम्)

हे नाथ! कृपा करके मुझे अपना सेवक बना लीजिये। मुझे अपनी दासता, किंकरता का दान दे दीजिये। कैसी दासता? जो कि प्रीति से होती है—प्रेम जिसको करा लेता है। कैसा प्रेम? आपके अनुभव से होने वाला। मैं अनन्त लावण्य, अपार माधुर्य, परम सौन्दर्य की प्रतिष्ठाभूत आपकी दिव्यमूर्ति का एवं आपके अनन्त सौशील्य, वात्सल्य आदि गुणों का अनुभव करूँ। वह अनुभव ऐसा होगा कि मेरे हृदय में आपके प्रति तैलधारा के समान अविच्छिन्न प्रेम लहरा देगा। वह प्रेम मुझसे आपकी सेवा करायेगा। मैं उस प्रेम में विभोर होकर आपकी सेवा-सपर्या, भजन-भक्ति करूँगा। आपकी ऐसी सुन्दर सेवा-भक्ति के अतिरिक्त मुझे अन्य कोई उपाय अपने उद्धार का और अन्य कोई लक्ष्य अपने जीवन का नहीं सूझ रहा है। यह सेवा ही मेरी गति है–उपाय है और जीविका का लक्ष्य है।

ooooo

गया श्राद्ध अवश्य करें

गया शीर्षे वसेन्नित्यं स्नानं फल्ग्वां चरेत् ।
गया शीर्षे सदा पिण्डमेतत् स्वर्गेऽपि दुर्लभम् ।।

ऐतिहासिक तथा पौराणिक ग्रन्थों के अध्ययन से यह सिद्ध है कि चार धामों से प्रधान पञ्चम धाम गया है। यह गया धाम आस्तिकों के लिए मुक्तिधाम है। कोई भी व्यक्ति कहीं भी किसी प्रकार भी मर जाता है तब उसके निमित्त गया धाम में पिण्डदान तथा फल्गु के जल से तर्पण करने पर मृतात्मा की मुक्ति अवश्य हो जाती है। ऋग्वेद, वामन, वाराह, कूर्म, वायु, पद्म गरुड़ आदि पूराणों, याज्ञवल्क्य, वसिष्ट आदि स्मृतियों, रामायण, महाभारत आदि इतिहास ग्रन्थों में मोक्ष स्थल के रूप में गया धाम का वर्णन किया गया है।

श्रीराम ने राजा गय के उपदेश को दुहराते हुए कहा है कि पुम् नामक नरक से पिता को उद्धार करने के कारण पुत्र कहा जाता है। पुत्र वही होता है, जो पितरों की सब प्रकार से रक्षा करता है।

पुन्नाम्नो नरकात् यस्मात् पितरं त्रायते सुतः ।
तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः पितृन् यः पाति सर्वतः ।।
(२।१०७।२)

पुनः श्रीराम ने कहा कि बहुत गुणवान और बहुश्रुत पुत्रों की इच्छा करनी चाहिए। उन पुत्रों में से कोई एक पुत्र भी गया की यात्रा करे अर्थात् कोई पुत्र भी गया में पितरों के निमित्त पिण्ड दान और तर्पण कर देता है तो उससे पितर मुक्त हो जाते हैं।

एष्टव्या बहवः पुत्राः गुणवन्तो बहुश्रुताः ।
तेषां वै समवेतानामपि कश्चित् गयां व्रजेत् ।।

इन वचन से सिद्ध है कि गया श्राद्ध करने में भी पुत्रों का अधिकार है। कोई भी पुत्र गयाधाम में पितरों के निमित्त पिण्डदान और तर्पण कर देता है तो पितर मुक्त हो जाते हैं। गया श्राद्ध में बड़ा छोटा का भेद नहीं है।

अयोध्या में मरने वाले श्रीराजा दशरथ के निमित्त पिण्ड देने श्रीराम सीता और लक्ष्मण के साथ गया धाम में आये थे। श्रीराम जी सीताजी को फल्गु किनारे बैठाकर अपने छोटे भाई लक्ष्मण के साथ बाजार से पिण्ड के सामान लाने गये। इसी बीच आकाशवाणी हुई कि पिण्ड का शुभ मुहूर्त्त निकला जा रहा है। मुझे शीघ्र पिण्डदान करो। छाया रूप में उपस्थित होकर महाराज दशरथ ने कहा पुत्रि! समय टलता जा रहा है, अतः शीघ्र मुझे पिण्डदान कर दो। अन्यथा अतृप्त रह जाऊँगा। सीताजी ने कहा पिताजी! श्रीराम और लक्ष्मण दोनों भाई बाजार से पिण्डदान की सामग्री लाने गये हैं, वे शीघ्र आते होंगे। पुनः राजा दशरथ ने सीता को मुहूर्त्त का स्मरण कराया। सीताजी उनके वचन से विवश होकर पीपलवृक्ष, गाय, केतकी, ब्राह्मण और महानदी फल्गु–इन पाँचों को साक्षी रखकर बालू का पिण्ड बनाकर श्रीदशरथजी के लिए दे दिया।

जब श्रीराम अपने भाई लक्ष्मण के साथ बाजार से लौटे तो सीताजी ने उनसे पिताजी के निमित्त पिण्डदान कर देने की बात कही। सीताजी के कथन पर दोनों भाईयों को विश्वास नहीं हुआ। सीताजी ने पीपल आदि पाँचों को साक्षी से उसकी परिपुष्टि के लिए कहा। उनमें केवल पीपल ने पिण्डदान की पुष्टि की, शेष चार ने पिण्डदान का समर्थन नहीं किया। माता सीता ने पीपल वृक्ष को चिरञ्जीवी होने का वरदान दिया और अन्य चारों को शाप दे दिया। गाय को विष्ठा खाने का,

केतकी को निर्मूल जो जाने का, गया वाले ब्राह्मणों को दरिद्र होने और महानदी फल्गु को सूख जाने का शाप दिया, फल्गु ने सीताजी के चरणों में गिरकर शाप से मुक्त कर देने का आग्रह किया। वात्सल्य गुण के कारण माता सीता ने थोड़ा संशोधन करते हुए फल्गु को अन्त:सलिला हो जाने का वचन दिया। वर्षा ऋतु के अतिरिक्त समय में महानदी अन्त:सलिता रहती है। इसलिए गर्मी के दिनों में भी फल्गु में बालू हटा देने पर पानी मिल जाता है। प्राचीन काल में २६४ पिण्ड वेदियों का वर्णन है, जिनमें अभी ९४ वेदियाँ उपलब्ध हैं। उसमें सीता कुण्ड वेदी प्रसिद्ध है। वहाँ बालू का पिण्ड दिया जाता है।

भिष्मपितामह अपने पिता शान्तनु के निमित्त पिण्डदान करने गयाधाम में आये थे। जब वे पिण्डदान करने के लिए तैयार हुए तब उनके पिता शान्तनु ने दाहिने हाथ निकालकर पिण्ड लेना चाहा; परन्तु भीष्मपितामह धर्मशास्त्र के मर्मज्ञ थे, वे जानते थे कि पिण्ड कुश पर देना चाहिए। अत: उन्होंने पिण्ड कुश पर ही दान किया। उससे शान्तनु प्रसन्न होकर बोले कि पुत्र! तुमने शास्त्र विधि के अनुसार पिण्डदान किया है। इससे मैं प्रसन्न होकर तुम्हें ऐच्छिक मृत्यु का वरदान देता हूँ। इस तरह भीष्मपितामह ने कुरुक्षेत्र में मरे हुए अपने पिता शान्तनु को मुक्ति के लिए गया धाम में पिण्डदान किया। गया श्राद्ध करने के एक दिन पूर्व मुण्डन कराकर घर में पिण्डदान करके घर की प्रदक्षिणापूर्वक यात्रा करे और पुनपुन में पिण्ड दान करे। तदनन्तर गया जाय।

भाद्रपद शुक्लपक्ष पूर्णिमा से आरम्भ होकर आश्विन शुक्लपक्ष प्रतिपदा तक पितृपक्ष होता है। इसी अवधि में अपने पूर्वजों के लिए श्रद्धापूर्वक तर्पण और पिण्डदान करे। पितरों के निमित्त गया में तर्पण एवं पिण्डदान से पितृगण प्रसन्न होकर अपने वंशजों को पुत्र, यश, आयु, स्वर्ग, कीर्ति, बल, धन एवं सुख देते हैं। पितृपक्ष में पूर्वज गया में आकर पुत्र, पौत्र से पिण्ड एवं तर्पण की आशा बनाए रहते हैं। इस पितृपक्ष में तर्पण और पिण्डदान नहीं करने पर पितर असन्तुष्ट होकर चले जाते हैं। उससे पुत्र, पौत्र आदि को कष्ट सहना पड़ता है। माता-पिता की मृत्यु के एक वर्ष के अन्दर गया श्राद्ध न करे। एक वर्ष के बाद गया में पिण्डदान कर देना चाहिए। पितृपक्ष में पिता, पितामह और प्रपितामह मातृपक्ष में माता, मातामही और प्रमातामही तक पिण्ड दिया जाता है तथा अपने कुल में जितने भी मरे हैं सभी के निमित्त पिण्ड दिया जाता है।

गया श्राद्ध को विशेष व्यय साध्य समझकर बहुत लोग उसे नहीं करते हैं, यह भूल है। गया श्राद्ध जौ के चूर्ण आदि सामान्य वस्तुओं से ही सम्पन्न हो जाता है। गया श्राद्ध के अङ्गरूप में श्रीमद्भगवत की साप्ताहिक कथा भी नहीं है। धुन्धुकारी मृत्यु से पूर्व महान् अपराधी था। अत एव उसे श्राद्ध से मुक्ति नहीं हुई। सूर्यदेव ने गोकर्ण को सङ्केत किया कि धुन्धुकारी को श्रीमद्भागवत का सप्ताह सुना दें। इसीलिए गोकर्ण ने धुन्धुकारी को श्राद्ध के बाद कथा सुनाया था। सबों के लिए गया श्राद्ध के बाद श्रीमद्भगवत कथा का प्रावधान नहीं है। गया श्राद्ध करके एक या तीन सुयोग्य विद्वान् ब्राह्मण को भोजन करा दे। विस्तार के भय से पितरों के निमित्त गया में तर्पण एवं पिण्डदान का त्याग कर देना उचित नहीं है।

गया में वास करना, फल्गु महानदी में स्नान करना और गया में पितरों के निमित्त पिण्ड देना ये मुक्ति के साधन हैं।

लीलाबिहारी की दिव्यलीला से दुर्वासा का मोह भञ्जन

एक दिन दुर्वासा जी परमात्मा श्रीकृष्ण का दर्शन करने के लिए व्रजमण्डल में आये। उन्होंने कालिन्दी के निकट पवित्र बालुकामय पुलिन के रमणीय स्थल में महावन के समीप श्रीकृष्ण को निकट से देखा। वे शोभाशाली मदन-गोपाल बालकों के साथ परस्पर मल्ल-युद्ध तथा भाँति-भाँति की बालोचित लीलाएँ कर रहे थे। इन कारणों से वे बड़े मनोहर जान पड़ते थे। उनके सारे अङ्ग धूलि से धूसरित थे। मस्तक पर काले घुँघराले केश शोभा पा रहे थे। दिगम्बर वेश में बालकों के साथ दौड़ते हुए श्रीहरि को देखकर दुर्वासा के मन में बड़ा विस्मय हुआ। दुर्वासा जी मन ही मन कहने लगे—क्या यह वही षड्विध ऐश्वर्य से सम्पन्न सर्वेश्वर हैं? यह बालकों के साथ धरती पर क्यों लोट रहे हैं? मेरी समझ में यह केवल नन्द का पुत्र है। परात्पर ब्रह्म श्रीकृष्ण नहीं हैं।

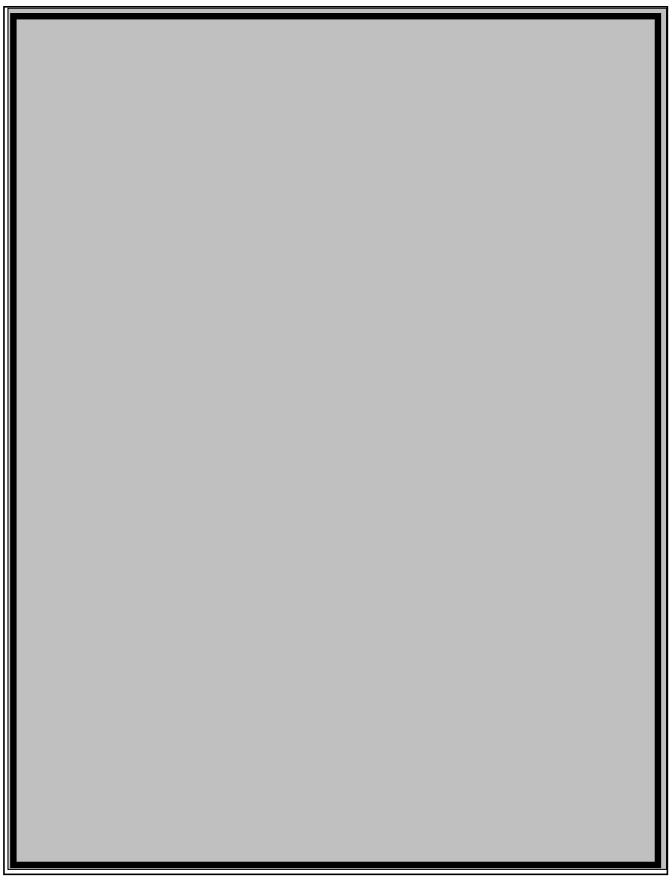

जब महामुनि दुर्वासा इस प्रकार मोह में पड़ गये, तब खेलते हुए श्रीकृष्ण स्वयं उनके पास उनकी गोद में आ गये। पुन: उनकी गोद से हट गये। श्रीकृष्ण की दृष्टि बालसिंह के समान थी। वे हँसते और मधुर वचन बोलते हुए उन्हीं मुनि के सम्मुख आ गये और सहसा हँसते हुए श्रीकृष्ण के श्वास से मुनि जी उनके मुख में समा गये। वहाँ जाकर उन्होंने एक विशाल लोक देखा, तदनन्तर उन्होंने अनेक ब्रह्माण्डों का दर्शन किया। फिर उन्हें विरजा नदी का दर्शन हुआ। उस नदी के पार पहुँचकर मुनि ने गोलोक में प्रवेश किया।

वहाँ उन्हें क्रमश: वृन्दावन, गोवर्धन और सुन्दर यमुना पुलिन का दर्शन मिला, तदनन्तर उन्हें पुरुषोत्तम राधावल्लभ भगवान श्रीकृष्ण का दर्शन हुआ। जो असंख्य गोप-गोपियों से घीरे हुए तथा कोटि-कोटि गौओं से सम्पन्न थे। मुनि को देखकर भगवान श्रीकृष्ण हँसने लगे। भगवान के हँसते समय उनके मुख से दुर्वासा जी बाहर निकल गये। पुन: उन्होंने वृन्दावन में बाल रूपधारी नन्दनन्दन को बालुकामय रमणीय स्थल में विचरते हुए देखा। तत्पश्चात् दुर्वासा मुनि यह समझ गये कि श्रीकृष्ण साक्षात् परमब्रह्म परमात्मा हैं। तदनन्तर दुर्वासा जी ने बालरूप श्रीकृष्ण का स्तवन किया। ०००००

नारायणबलिश्राद्ध किसके लिए क्यों और कब?

नारायणबलिश्राद्ध के विषय में कुछ अनावश्यक, असङ्गत तथा अशास्त्रीय भ्रान्तियाँ समाज में उत्पन्न की जा रही हैं। एतदर्थ धर्मशास्त्रीय वचनों के आलोक में कुछ विचार दिए जा रहे हैं—

नारायणबलिश्राद्ध के सम्बन्ध में सामान्यरूप से यह शङ्का उत्पन्न की जाती है कि यह श्राद्ध अकालमृत्यु प्राप्त प्राणी के लिए धर्मशास्त्र द्वारा अभिहित किया गया है; परन्तु सत्य इससे सर्वथा भिन्न है। वस्तुत: धर्मशास्त्रीय वचनों को समग्रभाव से देखने की आवश्यकता होती है, कहीं किसी शास्त्र में उद्धृत किसी एक वचन अथवा पङ्क्ति का शब्दार्थ लगाकर व्यवस्था देना धर्मशास्त्र के सर्वथा प्रतिकूल होता है। नारायणबलिश्राद्ध वस्तुत: एक प्रायश्चित्त रूप विशिष्ट श्राद्ध है। जिसका भाव यह है कि मनुष्य द्वारा अर्जित पाप का क्षय करना। इसीलिए स्मृतिकारों ने पाखण्डी, अनाश्रित, चोर, पति की हत्या करने वाली नारी, व्यभिचारादि में संलग्न स्त्रियाँ, मद्यपान, आत्महत्या आदि का नाम गिनाकर यह कहा है कि ये उदकदानादि प्राप्त करने के अनधिकारी हैं। अत: यदि इनका श्राद्धकर्म आदि करना हो तो प्रायश्चित्तपूर्वक करें। कुछ लोग उपर्युक्त में वर्णित अकालमृत्यु को नारायणबलिश्राद्ध से जोड़ देते हैं, जबकि स्मृतिकारों का भाव समग्र पाप कर्म से है न कि कुछ कार्य विशेष से। उपर्युक्त वर्णित पापकर्म 'पाप' के उपलक्षणस्वरूप हैं। उदाहरणार्थ याज्ञवल्क्य को देखें—

पाखण्ड्यनाश्रिता: स्तेना भर्तृध्नय: कामगादिका: ।
सुराप्य आत्मत्यागिन्यो नाशौचोदक भाजना: ।।
(याज्ञ०-३.६)

अङ्गिरा ने कहा है—

चाण्डालादुदकात्सर्पाद् ब्राह्मणाद्वैद्युतादपि ।
व्रंष्टिभ्यश्च पशुभ्यश्च मरणं पापकर्मिणाम् ।।
उदकं पिण्डदानं च प्रेतेभ्यो यत्प्रदीयते ।
नोपतिष्ठति तत्सर्वमन्तरिक्षे विनश्यति ।।

उपर्युक्त का कुछ लोग सीधा अर्थ करके यह अर्थ ध्वनित करते हैं कि किसी भी प्रकार से असमय में मृत्यु को प्राप्त व्यक्ति उदकादि किसी भी कर्म का अधिकारी नहीं होता है; परन्तु उपर्युक्त का अर्थ यह नहीं है। यदि हम ऐसा अर्थ करेंगे तो अनवस्था दोष को दूर करना सम्भव नहीं होगा; क्योंकि श्रुति-स्मृति-पुराणादि सभी सद्शास्त्रों में यह वर्णित है कि गो, ब्राह्मण, देश, समाज आदि की सेवा में संलग्न किसी प्रकार अर्थात् शस्त्र से, शुत्रु द्वारा विष से, पहाड़ से गिरने आदि से मृत्यु को प्राप्त व्यक्ति स्वर्ग का अधिकारी होता है। देश की सेवा में संलग्न सैनिकों की जो मृत्यु होती है, वह भी अकालमृत्यु के अन्तर्गत ही आता है, तो क्या वे सैनिक पापी होने के कारण उदकादि के अधिकारी नहीं हैं? ऐसा नहीं है। अत एव धर्मशास्त्रीय वचनों के अनुसार अकालमृत्यु को 'पाप' का उपलक्षण मानना चाहिए। अकालमृत्यु का भाव आत्महत्या रूपी जघन्य अपराध से है। इसकी पुष्टि गौतम के वचन से भी होती है— ***'एतदपीच्छापूर्वमात्महनन विषयम्'।***

दूसरा तथ्य यह है कि पाखण्डी, अनाश्रित अर्थात् आश्रमविहीन (धर्म से च्युत) चोर, हत्यारा आदि पापियों के साथ अकालमृत्यु की सङ्गति भी बैठ जायेगी; क्योंकि आत्महत्या स्वयम् में एक महापाप है। अत: स्पष्ट है कि गो, ब्राह्मण, राष्ट्र, समाज आदि की सेवा में संलग्न शस्त्रादि से असमय में मृत्यु को प्राप्त व्यक्ति कभी तथा किसी भी अवस्था में उदकादि प्राप्त करने के अधिकार से

वञ्चित नहीं होता। बल्कि वह तो सीधा स्वर्ग का अधिकारी होता है, ऐसा समझना चाहिए। गीता में अर्जुन को युद्ध हेतु प्रेरित करते हुए श्रीकृष्ण ने कहा है— ***'हतो वा प्राप्यसि स्वर्गं जित्वा वा मोक्ष्यसे महीम्'।***

अत: स्पष्ट है कि उपर्युक्त धर्म-कार्य में संलग्न रहते हुए मृत्यु को प्राप्त करने वाला पापी नहीं होता, बल्कि पुण्यात्मा होता है और पुण्यात्मा के समान ही वह स्वर्ग प्राप्त करता है।

अत एव अकालमृत्यु (आत्महत्यारा) अर्थात् पापी को ऋषियों ने उदकादि देने का तब तक निषेध किया है जब तक कि नारायणबलिश्राद्ध द्वारा उसके महान पाप प्रक्षालित नहीं हो जायें। बृद्धयाज्ञवल्क्य, छागल आदि ने स्पष्ट कहा है—

नारायणबलि: कार्यो लोकगर्हाभयान्नरै: ।
तथा तेषां भवेच्छौचं नान्यथेत्यब्रवीद्यम: ।।

आत्महत्या करने वाले को नारायणबलिश्राद्ध द्वारा शुद्धि करने अर्थात् आत्महत्यारूपी पाप से मुक्त कराने के उपरान्त ही उदकादि देना चाहिए।

अब यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जिसने आत्महत्या नहीं किया है क्या उसके लिए नारायणबलिश्राद्ध आवश्यक नहीं है?

इसका उत्तर देने के पूर्व श्राद्ध पर विचार करना अवश्यक है। श्राद्ध क्या है? प्रायश्चित्त क्या है?

श्राद्ध—श्राद्ध का क्षेत्र अति व्यापक है। इसीलिए इसका महत्त्व वेद, धर्मशास्त्र, पुराणादि सभी सद् शास्त्रों में विशेष रूप से वर्णित है। सभी वैदिक कर्म तीन भागों में विभक्त हैं—नित्य, नैमित्तिक एवं काम्य। कुछ कर्म नित्य हैं, कुछ नैमित्तिक तथा कुछ काम्य; परन्तु श्राद्धकर्म की व्यापकता इतनी है कि ये तीनों कर्म में प्रयुक्त होते हैं। देवर्षि, पितृतर्पण, बलिवैश्वदेव आदि नित्यकर्म के अन्तर्गत आते हैं। विशेष निमित्त पर किए जाने वाला पितृश्राद्ध आदि नैमित्तक तथा विवाहादि के अवसर पर किये जाने वाले वृद्धिश्राद्ध काम्यकर्म के अन्तर्गत आता है। प्रकृत लेख का आलोच्य विषय नारायणबलिश्राद्ध पितृकर्म के अङ्गस्वरूप प्रायश्चित्त रूप विशेष श्राद्ध है।

सर्वप्रथम हम पितृश्राद्ध कर्म पर विचार करें—मृत्यु से सपिण्डीकरण तक जितने भी कर्म होते हैं, वे सभी पितृकर्म के अन्तर्गत आते हैं, जिसे हम पिण्ड, तर्पण, दानादि द्वारा पूर्ण करते हैं। पितृश्राद्ध में तीन षोड़शी होता है।

प्रथम षोड़शी—इसके अन्तर्गत मृतस्थान, द्वार, चौराहा, घर एवं श्मशान के मध्य, श्मशान पर कुल पाँच पिण्ड, अस्थि सञ्चय के समय दिया जाने वाला छठा पिण्ड और दशकर्म तक एक-एक पिण्ड नित्य के हिसाब से दश पिण्ड! इस प्रकार प्रथम षोड़शी अथवा मलिन षोड़शी पूर्ण होता है।

मध्यषोड़शी—इसके अन्तर्गत नारायणबलिश्राद्ध, वृषोत्सर्ग, देवश्राद्ध आदि आता है।

उत्तमषोड़शी—जिसे चौदहमासिका, एकोदिष्ट आदि कहते हैं, वह आता है।

नारायणबलिश्राद्ध मध्यषोड़शी के अन्तर्गत आता है। उपर्युक्त तीनों षोड़शी पितृश्राद्ध (सपिण्डीकरण) के अङ्ग हैं। अत: इन्हें सम्पादित करने के उपरान्त ही सपिण्डीकरण करने का अधिकार प्राप्त होता है। देखें गरुड़पुराण—

श्राद्धं षोडशकं चैकं प्रथमे परिकल्पितम्।
चत्वारिंशत्तथैवाष्टौ श्राद्धे प्रेतत्वनाशनम्।
यस्य जातं बिधानेन स भवेत् पितृपङ्क्तिभाक्।

अब थोड़ा प्रायश्चित पर विचार करें—तप:पूत मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने प्रायश्चित्त का जो भाव सङ्केत किया है, वह भी विशेष रूप से यहाँ ध्यातव्य है—

१. तैत्तिरीयसंहिता में प्रायश्चित्त शब्द, प्रायश्चित्ति शब्द से अनेक स्थानों पर आया है।

२. कोई ऐसा कार्य करना, जिससे किसी अचानक घटित घटना का मार्जन हो जाय।

३. मीमांसाशास्त्र के भाष्यकार शबरस्वामी ने इसे दो प्रकार का माना है–क्रत्वर्थ और पुरुषार्थ। **क्रत्वर्थ**–यज्ञ की विधि में प्रमाद से या यज्ञोपकरण के गिरने से जो गड़बड़ी होती है, उसके कुप्रभाव को सुधारने के लिए किए गए प्रयोग तथा—(**पुरुषार्थ**) वैसे प्रयोग जो किसी कृत्य के सहायक भागों के रूप में किया जाय अर्थात् उनका प्रयोग इसलिए होता है कि व्यक्ति ने जो व्यवस्थित कृत्य नहीं किया है, अथवा जीवन में जो निषिद्ध कार्य किया है, उनका मोचन हो जाय। (क्रत्वर्थरूप प्रायश्चित्त हेतु श्रौतसूत्र तथा पुरुषार्थरूप प्रायश्चित्त हेतु स्मृति-ग्रन्थों का अवलोकन अपेक्षित है। विस्तार भय से यहाँ देना सम्भव नहीं है)।

४. व्युत्पत्ति के आधार पर भी अर्थ आचार्यों ने किया है, जिसका भाव है–प्राय: = तप एवं चित्त = सङ्कल्प। अर्थात् पाप विध्वंस हेतु लिए गए सङ्कल्प।

५. बालभट्टी ने थोड़ा और स्पष्ट किया है—प्राय: =पाप, तथा चित्त = शोधन

६. किसी के मत में—प्राय: = विनाश तथा चित्त = संसाधन। जिसका भाव हुआ नष्ट की पूर्ति।

उपर्युक्त सभी का मूलभाव पाप का क्षय करना ही अभिप्रेत है। मीमांसाशास्त्र वेदवचनों पर विचार करने के लिए ही बना है और उसके भाष्यकार ने जो प्रायश्चित्त का क्रत्वर्थ और पुरुषार्थ रूप उपरोक्त व्याख्या उपस्थित किया है, उसके अन्तर्गत आज कौन प्राणी नहीं आता है? अन्यान्य स्मृतिकारों ने जो पापियों के पाप प्रक्षाणार्थ प्रकृतश्राद्ध को करने के लिए कहा है उससे आज कौन मानव पृथक् होगा? अर्थात् कोई नहीं।

तीन षोड़शी का प्रावधान करने के पीछे ऋषियों का भाव भी यही था कि जीवन में प्रमादादि कारणों से मानव द्वारा सम्पादित निषिद्ध कर्मों का परिमार्जन मध्यषोड़शी के द्वारा सम्पन्न हो जाय। यदि हम सूक्ष्मतापूर्वक विचार करें तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि बहुत से कर्म को तो हम करते हैं; परन्तु उनका रहस्य नहीं जानते, ऐसी स्थिति में क्या हम उन कर्मों के फला-फल से वञ्चित रहेंगे? क्या अनजाने में तप्त वस्तु का स्पर्श हमें दग्ध नहीं करता? और दग्ध करने पर उसके विनाश हेतु हम प्रयत्न नहीं करते? अर्थात् अवश्य करते हैं।

यदि हम उपर्युक्त ऋषि (धर्मशास्त्रीय) वचनों के साथ प्रायश्चित्त विधान के भावों को ध्यान में नहीं रखेंगे, तब धर्मशास्त्र अथवा धर्मशास्त्रीय वचनों के साथ न्याय नहीं होगा। जिसका परिणाम होगा मानव का अध:पतन। वैदिक संस्कृति को समाप्त करने हेतु बौद्ध, मुगल, अंग्रेज आदि विधर्मी शासकों ने अपनी संस्कृति और धर्म को स्थापित करने के लिए सत्ता के द्वारा अपने शासनकाल में अनेक विध प्रयत्न किए और आंशिक रूप में वे सफल भी हुए। परिणामस्वरूप भौतिकवादी प्रवृत्ति की हममें वृद्धि हुयी और शनै:शनै: धर्माचरण से हम विमुख होते गए। वैदिक क्रियाओं का अत्यधिक लोप हुआ। ऐसी स्थिति में हमसे निषिद्धकर्म का होना स्वाभाविक है। अत: उसके परिमार्जन हेतु नारायण-बलिश्राद्ध प्राणीमात्र के लिए आवश्यक है।

थोड़ा हम आत्मचिन्तन कर विचार करें कि ऋषियों ने जो ऊपर परिगणित कर्मों को महापाप के रूप में कहा है, क्या उन-उन कर्मों को ज्ञात अथवा अज्ञात रूप में हम नहीं करते हैं? उत्तर है अवश्य करते हैं और करते हैं तब क्या उसका प्रायश्चित्त नहीं किया जाना चाहिए? उत्तर है–प्रायश्चित्त अवश्य करना चाहिए। जहाँ प्रायश्चित्तस्वरूप मध्यषोड़शी में परिगणित कर्म का प्रश्न आयेगा, वहाँ नि:सन्देह

बृषोत्सर्गादि सभी श्राद्धों में नारायणबलिश्राद्ध श्रेष्ठ तथा शोभनीय है; क्योंकि संसारचक्र से मुक्त करने वाले एक मात्र नरायण को ही सद्शास्त्रों ने उपाय बतलाया है। जब नारायण आत्यन्तिक दु:ख का निराश करने में सक्षम हैं, तो क्षुद्र दु:ख की बात ही क्या। वृषोत्सर्ग वर्तमान परिप्रेक्ष्य में सर्वथा प्रतिकूल हो गया है, अत: स्वीकार्य योग्य नहीं है। अत: पितृश्राद्ध (सपिण्डीकरण) की पूर्णता हेतु तीनों षोड़शी अर्थात् अधम और उत्तम के साथ नारायणबलिश्राद्ध प्रत्येक मानव के लिए अवश्य करना चाहिए।

अपि च आपके इस तर्क को कि नारायण-बलिश्राद्ध अकालमृत्यु वाले को ही करना चाहिए, हम मान लें, तो ब्रह्म में अर्थात् नारायण में ही दोष उत्पन्न हो जायेगा और इसका अर्थ होगा कि प्रभु पापियों को ही कल्याण करते हैं, सदाचारियों को नहीं। इस प्रश्न द्वारा आप परब्रह्म पर पापियों के संरक्षण देते हुए पापकर्म करवाने का आरोप आरोपित कर रहे हैं। अत: आपकी शङ्का दोषपूर्ण होने से आदरणीय नहीं है।

प्रश्न—आप द्वारा उपस्थापित उपर्युक्त पक्ष को यदि हम स्वीकार करते हैं, तब उसका अर्थ यह ध्वनित होता है कि पितृश्राद्ध में नारायणबलिश्राद्ध ही प्रधान है; क्योंकि देवता, पितर से ऊपर होते हैं और नियम यह है कि अङ्ग और प्रधान में अङ्ग की पूजा पहले होती है प्रधान की पूजा बाद में। यथा—सत्यनारायणव्रत कथा में नारायण का पूजन बाद में किया जाता है, और अङ्गरूप अन्यान्य देवताओं की पूजा पूर्व में की जाती है। अत: यह स्पष्ट है कि पितृश्राद्ध में एकोदिष्टसपिण्डीकरण के उपरान्त ही नारायणबलिश्राद्ध करना श्रेयस्कर है।

उत्तर—आपका प्रश्न अशास्त्रीय होने से आदरणीय नहीं है; क्योंकि प्रधानकृत्य कार्य विशेष पर आश्रित होता है। पितृश्राद्ध में प्रधानता सपिण्डीकरण की है, न कि अन्यान्य कर्मों की। धर्मशास्त्र के आद्य प्रर्वतक भगवान मनु का वचन इसमें प्रमाण है। मनु (३.१९४) ने स्पष्ट कहा है कि—

देवकार्यादृ द्विजातीनां पितृकार्यं विशिष्यते।
देवं हि पितृकार्यस्य पूर्वमाप्यायनं स्मृतम्।।

अर्थात् देवताओं के उद्देश्य से किये जाने वाले कार्य से पितरों के उद्देश्य से किया जाने वाला कार्य द्विजों के लिए प्रधान है। अत: पितृकार्य का पूरक रूप यहाँ देवकार्य अर्थात् अङ्गरूप है। अत: इसे पितृकार्य (सपिण्डीकरण) से पूर्व करना चाहिए।

प्रश्न—यदि हम एकोदिष्ट, सपिण्डीकरण के पूर्व नारायणबलिश्राद्ध करते हैं, तब तो महान् अनर्थ उत्पन्न हो जायेगा; क्योंकि नारायणबलिश्राद्ध द्वारा प्राणी मुक्त हो जाता है और मुक्तात्मा पुन: संसार में नहीं आता है। तब फिर मृतप्राणी को प्रेत शब्द अथवा नाम द्वारा पिण्डादि देने के लिए जब हम आहुत करेंगे, तब वह अपना अंश प्राप्त करने के लिए कैसे आयेगा। इससे स्पष्ट है कि प्रेतश्राद्ध अर्थात् एकोदिष्ट सपिण्डीकरण करने के उपरान्त ही नारायणबलिश्राद्ध करना चाहिए जिससे मृतप्राणी के मुक्ति में सन्देह नहीं रह जाय?

उत्तर—आपका प्रश्न शास्त्रमर्यादा के प्रतिकूल मुक्ति के ठेकेदार (Contecatar) की भाँति हैं। आप सम्यक् प्रकार से जानते हैं कि भारतीय संस्कृति में अर्थात् जिसमें मुक्ति और पुनर्जन्म की कल्पना वा विधान विवक्षित है। उसमें कर्म विपाक का सिद्धान्त ही उपर्युक्त विधान में हेतु है। कर्म के शेष (पुण्य-पाप) रहते मुक्ति कथमपि नहीं मिल सकती है। कर्म का फलाफल भोगना प्राणीमात्र की नियति है। ऐसी स्थिति में किसी भी व्यक्ति को

कुछ द्रव्य व्यय करवाकर नारायणबलिश्राद्ध सम्पादित करवाते हुए मुक्ति की गारन्टी देना कितना हास्या-स्पद है।

आपके उपर्युक्त तर्क को कि नारायणबलि श्राद्ध करने मात्र से मुक्ति मिल ही जायेंगी, को मानने पर संसार में महान् उपद्रव हो जायेगा और संसार में हाहाकार मच जायेगा। सम्पूर्ण व्यवस्थाएँ छिन्न-भिन्न हो जायेंगी। कोई भी व्यक्ति धर्माचरण की ओर प्रवृत्त नहीं होगा, और त्रैविद्य कर्म के साथ वैदिक संस्कृति का सर्वनाश हो जायेगा; क्योंकि आपके तर्कानुसार उसे ज्ञात है कि कितना भी दुष्कर्म करेंगे, तब भी मेरे पुत्र-पौत्रादिक कुछ धन-व्यय करके नारायणबलि-श्राद्ध द्वारा हमें मुक्त करवा ही देंगे। फिर हम शरीर को कष्ट क्यों दें, आध्यात्मिक चिन्तन क्यों करें, धर्मपथ का पथिक क्यों बने आदि। सद्मार्ग पर यात्रा करना अत्यधिक कठिन है। भोगादि में लिप्त रहना और सद्मार्ग का अनुशरण करना अलग-अलग तथ्य है। हर व्यक्ति जानता है कि चोरी करना पाप है। चोरी करने पर धर्म द्वारा और राजा द्वारा दण्डित होंगे। अत: ज्ञानी मनुष्य को चौर्य कर्म से निवृत्ति रहती है और जो ज्ञानी नहीं हैं अर्थात् धर्मज्ञान से रहित हैं और वे शक्ति सम्पन्न होने के कारण इस विश्वास से युक्त हैं कि राज सत्ता का शमन मैं कर लूँगा, वे चौर्यकार्य में प्रवृत्त हो जाते हैं, उसी प्रकार सभी मानव अधार्मिक तथा असंस्कारित हो दुष्कर्म में प्रवृत्त हो जायेंगे।

ऊपर के प्रसङ्ग से यह स्पष्ट हो गया है कि प्राणी-मात्र की शुद्धि के लिए नाराणबलिश्राद्ध आवश्यक है। अत: पापियों के पाप प्रक्षालनार्थ तथा पुण्यात्माओं के लिए भगवद् लोक प्राप्ति की कामना से यह आवश्यक है। यहाँ एक लौकिक उदाहरण लें— आपके ऊपर किसी का दश हजार रुपये का कर्ज है, और आपको कहीं से दश हजार रुपये प्राप्त हो जाय, तब आप उस ऋण से उऋण होने की शक्ति से युक्त होंगे अथवा नहीं? अर्थात् अवश्य हो जायेंगे। और आपके ऊपर किसी प्रकार का किसी का कोई भी ऋण नहीं है और आपको कहीं से दश हजार रुपये की प्राप्ति हो जाये तब आप सम्पन्न होंगे या नहीं? अर्थात् अवश्य सम्पन्न हो जायेंगे।

इसी प्रकार नारायणबलिश्राद्ध द्वारा जब जघन्य पापियों का कल्याण हो सकता है, तब सामान्य जन का कल्याण क्यों नहीं होगा, अर्थात् अवश्य होगा। परमाचार्य (अनन्तश्री स्वामी पराङ्कुशाचार्य)जी महाराज ने अपनी पद्धति में जो उद्धरण उद्धृत किया है, वह यहाँ विशेष रूप से अवलोकन योग्य है—

पाई न केहि गति पतित पावन राम भजि सुनु सठमना।
गनिका अजामिल व्याध गीध गजादि खल तारे धना।।

अर्थात् मानसकार ने रामभजन द्वारा भवसागर पार करने वाले गणिका, अजामिल, व्याध आदि निकृष्टतम प्राणियों को जो कहा है, इसका अर्थ यह नहीं है कि निकृष्टतम प्राणियों को ही प्रभु कल्याण करते हैं बल्कि इसका अर्थ है कि पुण्यात्माओं को तो प्रभु कल्याण करते ही हैं, साथ-ही-साथ शरणागत होने पर निकृष्ट प्राणियों को भी उद्धार कर देते हैं। शरणागति अन्तर्मन से प्रायश्चित्तपूर्वक ही किया जाता है। विना प्रायश्चित्त के शरणागति पूर्ण हो ही नहीं सकती। इसकी पुष्टि स्वरूप परमाचार्य ने भगवान के मुखार-विन्द से नि:सृत वचन (गीता) को दिया है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजन्ते मामनन्यभाक्।
साधुरेव समन्तव्य: सम्यगव्यवसितो हि स:।
किं पुनर्ब्राह्मणा: पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।

अर्थात् सुदुराचारी भी अनन्य भाव से भजन करने पर मुक्त हो जाते हैं, तब फिर पुण्यात्माओं की मुक्ति में सन्देह का स्थान कहाँ है।

निर्णयसिन्धुकार ने शौनक का वचन उद्धृत

करते हुए कहा है—

शौनकोऽहं प्रवक्ष्यामि नारायणबलिं परम् ।
चाण्डालादुदकात् सर्पात् ब्राह्मणाद् वैद्युतादपि ।
द्रष्ट्रिभ्यश्च पशुभ्यश्च रज्जुशस्त्रविषाश्मभिः ।
देशान्तरमृतानाञ्च मृतानां वान्यसाधनैः ।
जीवच्छ्राद्धमृतानाञ्च कनिष्ठानां तथैव च ।
यतीनां योगिनां पुंसामन्येषां मोक्षकाङ्क्षिणाम् ।
पुण्याधक्षयार्थाय द्वादशेऽहनि तु कारयेत् ।

उपर्युक्त वचनों का सार यह है कि किसी भी स्थिति में मृत्यु को प्राप्त होने वाले व्यक्ति के कल्याण के लिए द्वादशाह के दिन नारायणबलि-श्राद्ध अवश्य करना चाहिए।

अब आप श्राद्ध के काल एवं क्रम पर विचार करें

श्राद्ध का समय—द्वादशाहकृत्य कर्म में मुख्य रूप से तीन कर्म है–नारायणबलि (देवश्राद्ध, मध्य-षोड़शी) एकोदिष्ट और सपिण्डीकरण।

ऊपर के प्रसङ्ग से स्पष्ट हो गया है कि पितृ-श्राद्ध (सपिण्डीकरण) का नारायणबलि एवं एकोदिष्ट अङ्ग है। अतः इसका समय भी क्रमानुसार ही स्मृतिकारों ने निर्धारित किया है—

पूर्वाह्णे दैविकं कर्म अपराह्णे तु पैतृकम् ।
एकोदिष्टं तु मध्याह्ने प्रातर्बृद्धि निमित्तकम् ।।

(देवल)

सपिण्डीकरणं श्राद्धं देवपूर्वकं नियोजयेत् । (यम)

अर्थात् देवकर्म पूर्वाह्न में, (एकोदिष्ट) कर्म मध्याह्न में तथा पितृकर्म (सपिण्डीकरण) अपराह्न में करने का निर्देश देवल का है। यम ने भी देवकर्म के उपरान्त ही सपिण्डीकरण करने का आदेश दिया है।

श्राद्ध का क्रम—नारायणबलिश्राद्ध मध्यषोड़शी के अन्तर्गत आता है, अतः प्रथम, मध्यम तथा उत्तमषोड़शी किए विना सपिण्डीकरण करने की योग्यता वा अधिकार ही प्राप्त नहीं होता है। देखें मिताक्षराकार की सम्मति—

'एवं नारायणबलिः प्रेतस्य शुद्ध्यापादनद्वारेण श्राद्धादि सम्प्रदानत्वयोग्यतां जनयतीति और्ध्वदेहिक-मपि सर्वकार्यमेव' (मिताक्षरा)।

त्रिंशच्छलोकी में भी स्पष्टरूप से नारायणबलि के उपरान्त एकोदिष्ट पुनः सपिण्डीकरण करने का निर्देश है—

नारायणबलिः कार्यो लोकगर्हाभयान्नरैः ।
अन्नमिष्टं प्रियं चैव विप्रेदद्यासदिक्षणम् ।
पिण्डोदकक्रियाः पश्चात् वृषोत्सर्गादिकं च यत् ।

आनन्दाश्रम शकाब्द १८५८ (पृ०-१७८) में प्रकाशित।

यहाँ विशेषरूप से हारीत का वचन ध्यातव्य है हारीत ने पितृकर्म को भी भगवान् के समक्ष करने का निर्देश दिया है—

यः श्राद्धं कुरुते विप्रः शालग्रामशिलाग्रतः ।
पितृणां तत्र तृप्तिः स्याद् गयाश्राद्धदनन्तरम् ।
जपहुतं तथा दानं बन्दनञ्च ततः क्रिया ।
शालग्रामसमीपे तु सर्वकोटिगुणं लभेत् ।
हरेर्निवेदितं भक्त्या यो दद्यात् श्राद्धकर्मणि ।
पितरस्तस्य यान्त्येव तद्विष्णोः परमं पदम् ।

अर्थात् भगवान के समक्ष एवं भगवान को निवेदित वस्तु से श्राद्ध एवं पितृकर्म करना सर्वोत्तम होता है।

निष्कर्ष—उपरोक्त सभी स्मृतिकारों के वचन से यह स्पष्ट है कि नारायणबलिश्राद्ध मध्यषोड़शी के अन्तर्गत परिगणित होने से सपिण्डीकरण के पूर्व ही करना चाहिए। सपिण्डीकरण के उपरान्त नारायणबलि-श्राद्ध करना शास्त्रमर्यादा के सर्वथा प्रतिकूल है।

—०००—

गुरु-पूर्णिमा

आध्यात्मिक ज्ञान ही मनुष्य को महान् बनाता है। ज्ञान के विना मानव पशु या दानव बन जाता है। तत्त्व का यथार्थ ज्ञान वेदान्त दर्शन से प्राप्त होता है। ब्रह्मा को नारायण से वैदिक-ज्ञान प्राप्त हुआ था। ह्यग्रीव नामक दानव ने वेदों को चुरा लिया था। भगवान् ने मत्स्यरूप धारणकर उनका उद्धार किया। उसी के आधार पर ब्रह्मा ने सृष्टि का विस्तार किया है। काल के प्रभाव से ज्ञान का अभाव होने लगा। उसके निवारण के लिए भगवान् विष्णु ने व्यासरूप में अवतार लिया है। द्वापर में आषाढ़ पूर्णिमा को श्रीपराशर के द्वारा सत्यवती के गर्भ से श्रीव्यास जी का प्रादुर्भाव हुआ था। उन्होंने वेद का विस्तार किया। एक वेद को ऋक्, यजु, साम और अथर्ववेद के रूप में विभाजित किया। तदनन्तर उन्होंने एक लक्ष श्लोक से परिपूर्ण महाभारत की रचना की और चार लाख श्लोकों से पूर्ण अठारह पुराणों का निर्माण किया। प्रस्थानत्रयी के अन्दर प्राप्त ब्रह्मसूत्रों का प्रणयन भी उन्होंने ही किया है। ***'इतिहासपुराणञ्च पञ्चमो वेद उच्यते'*** के अनुसार वेद व्यास निर्मित महाभारत और पुराण को पञ्चम वेद के रूप में स्वीकार किया जाता है। व्यास जी ने इन शास्त्रों के द्वारा विश्व में ज्ञान ज्योति को जलाकर अज्ञानान्धकार को दूर हटाया। जगत् में किसी को कुछ भी आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त हुआ है या हो रहा है वह वेदव्यास जी की ही देन है। जगत् में यथार्थ ज्ञान देने वाले गुरु श्रीव्यास जी ही हैं। अतएव उनकी जन्मतिथि को गुरुपूर्णिमा कहते हैं। आषाढ़ शुक्लपूर्णिमा को वेदव्यास जी की विशेष पूजा होती है। आज विश्व में आध्यात्मिक ज्ञान के सदुपदेश देने वाले समस्त सन्तों की भी गुरुपूर्णिमा को शिष्यगण पूजा करते हैं। आध्यात्मिक सदुपदेश के द्वारा शिष्यों को भगवान के चरणों में प्रीति उत्पन्न कराने वाले गुरु होते हैं। वे गुरुजन आचार्य कहे जाते हैं। आचार्यों द्वारा भगवान के दिव्यगुणों एवम् उनकी विभूतियों को सुनने एवं समझने पर भगवान के चरणों में प्रेम होता है।

भगवान् और आचार्य में आठ प्रकार की समानता होती है—

(१) अज्ञानान्धकार को दूर करने वाले भगवान् हैं, वे भक्तों के ऊपर कृपाकर उनके चित्तवृत्ति में स्थित होकर ज्ञानरूपी दीप के द्वारा विषयाशक्तिरूपी तम को दूर करते हैं। वैसे ही सद्गुरु अपने सदुपदेश द्वारा शिष्यों के अज्ञान को नष्ट करता है। अतः श्रीभगवान् और सद्गुरु ये दोनों अज्ञानान्धकार के नाशक हैं। इसलिये दोनों में समता है।

(२) भगवान् पापों को नष्ट करने वाले हैं। दुष्टचित्त वाले दुर्जनों के द्वारा भी स्मरण किये जाने पर भगवान् उनके पापों को हर लेते हैं। वैसे ही आचार्य भी शिष्यों के पाप को नष्टकर देते हैं। वे अपने सदुपदेश द्वारा शिष्यों को आगे होने वाले पापाचरण से विरक्त कर देते हैं। अतः पापनाशकत्व भगवान् और आचार्य में समान है।

(३) भगवान् अपने आश्रित जीवों के ऊपर कृपा करके उनको अपने समान पद देते हैं। मोक्ष की स्थिति में पहुँचने पर जीवात्मा और भगवान् में समानता हो जाती है। ***निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति*** भगवान् जितना आनन्दानुभव करते हैं, मुक्त जीव भी उतना ही आनन्दानुभव करता है। उसी प्रकार आचार्य भी अपने शिष्यों को ज्ञान, वैराग्य, भगवद्भक्ति और भगवद्कृपा की प्राप्ति में अपने समान बना देता है।

(४) जीवों को जो मोक्ष मिलता है वह भी जीवों का एक प्रकार से जन्म ही है। उससे जीव के स्वरूप का पूर्ण विकास होता है। सांसारिक जन्म और मोक्षरूप जन्म में यह अन्तर है कि मोक्षरूपी जन्म सांसारिक जन्मों को नष्टकर देता है। मोक्षरूपी जन्म प्रदान करने वाले श्रीभगवान् हैं, वैसे ही आचार्य भी सांसारिक जन्मों को नष्ट करने वाले विद्याजन्म को प्रदान करते हैं। इससे भी भगवान् और आचार्य में समानता सिद्ध होती है।

(५) भगवान् की दिव्यदृष्टि का ही प्रभाव है जिससे मनुष्य सात्त्विक मोक्ष का अधिकारी होता है, उसी प्रकार आचार्य की दिव्यदृष्टि का प्रभाव है। आचार्य की कृपा दृष्टि होने पर मानव मोक्ष प्राप्त करता है। अत: भगवान् और आचार्य वे दोनों अपने दिव्यदृष्टि के प्रभाव से जीव को कल्याण प्रदान करने के कारण समान हैं। श्रीभगवान् ने अर्जुन को दिव्यदृष्टि दी है और आचार्य श्रीवेदव्यास जी ने सञ्जय को दिव्यदृष्टि एवं दिव्यश्रोत प्रदान किया है।

(६) भगवान् की कृपा किसी भी विघ्न से बाधित नहीं होती है। उनकी कृपा जीवों पर सदा प्रवाहित होती रहती है। वैसे ही आचार्य कृपा भी किसी विघ्न से बाधित न होकर सदा शिष्यों पर प्रवाहित होती रहती है। कृपा करने के विषय में आचार्य और भगवान् दोनों समान हैं।

(७) भगवान् आनन्दमय होने से सर्वदेश, सर्वकाल एवं सभी अवस्थाओं में रस रूप में रहते हैं। अतएव भगवान् भक्तों को अत्यन्त भोग प्रतीत होते हैं। वैसे ही आचार्य भी अपने शिष्यों की सेवा से अपार आनन्द का अनुभव करता है। इसलिए भोक्ता के विषय में भगवान और आचार्य दोनों समान हैं।

(८) जीवों के प्रति भगवान् शेषी (स्वामी) हैं। भगवान् का स्वामीत्व सदा बना रहता है। वह कभी हटने वाला नहीं है। वैसे ही आचार्य भी शिष्यों के प्रति शेषी (स्वामी) हैं। उनका स्वामीत्व कभी भी नहीं मिटता। वैकुण्ठ में पहुँचने पर भी आचार्य, आचार्यरूप में ही रहते हैं और शिष्य, शिष्यरूप में रहते हैं। अत: स्वामीत्व की दृष्टि से भगवान् और आचार्य दोनों समान हैं।

●

विषय-भोग कब तक ?

जिस प्रकार छोटा बच्चा घर में अकेले ही बैठे-बैठे खिलाने लेकर मनमाने खेल खेलता रहता है, उसके मन में कोई भय या चिन्ता नहीं होती। परन्तु ज्योहीं उसकी माँ वहाँ आ जाती हैं, त्योंही वह सारे खिलौने छोड़कर-माँ-माँ-, कहते हुए उसकी ओर दौड़ जाता है। तुम लोग भी इस समय धन-मान-यश के खिलौने लेकर संसार में निश्चिन्त होकर सुख से खेल रहे हो, कोई भय या चिन्ता नहीं है। परन्तु यदि तुम एक बार भी उस परतत्त्व का दर्शन कर लोगे, तब फिर तुम्हें धन-मान-यश नहीं अच्छा लगेगा और सब कुछ त्यागकर उन्हीं की ओर दौड़ जाओगे।

वास्तु-विचार

नूतन भवन निर्माण में प्रथम भूमि पर विचार करना चाहिए। जिस भूमि में मकान बनाना हो वह भूमि दक्षिण या पश्चिम की ओर ढालू नहीं हो। दक्षिण पश्चिम की ढालू भूमि में शिलान्यास करके बना मकान लाभदायक नहीं होता है। अत: भूमि को पूर्व या उत्तर की ओर ढालू बनाकर उसमें शिलान्यास करे।

मकान की लम्बाई-चौड़ाई के आधार पर आय-व्यय तथा आयु का विचार किया जाता है। इसलिए मकान बनाने से पूर्व ही आय-व्यय और आयु का विचार कर लेना चाहिए। कुछ लोग यह सुनाते हैं कि मेरे यहाँ आय कम है और व्यय अधिक होता है इसका क्या कारण है? उसका कारण यही है वह मकान बनाने से पूर्व मकान का पिण्ड पर विचार करके मकान नहीं बनाया है। मकान मालिक के हाथ से लम्बाई-चौड़ाई का हिसाब किया जाता है। मकान बनाने से पूर्व किसी अच्छे ज्योतिषी से दिखाकर मकान बनाना चाहिए।

प्रथम दक्षिण से ही मकान बनाना प्रारम्भ करे, उत्तर या पूर्व में मकान का भाग पहले बन जाने पर दक्षिण-पश्चिम बनाने में बहुत कठिनाई होती है।

कूप या कल कोई भी जलाशय मकान में दक्षिण दिशा में, दक्षिण-पूर्व के कोण पर और दक्षिण पश्चिम के कोण पर नहीं होना चाहिए उससे मृत्यु फल होता है। मकान में बाहर भी उन दिशाओं में जलाशय नहीं रहना चाहिए।

मकान में पश्चिम या दक्षिण दिशा में जलस्राव (नाली) न बनाये। मकान से निकलने वाला द्वार बीच में या कोण में नहीं होना चाहिए।

०००००

जीर्णादि गृह-प्रवेशमुहूर्त्त

१. श्रावण-शुक्ल-षष्ठी शुक्रवार ५।८।२०११ को—

कन्या लग्न ८:३७ से १०:५९ तक दिन में।

२. श्रावण-शुक्ल-दशमी सोमवार ८।८।२०११ को—

कन्या लग्न ८:२५ से १०:३७ तक दिन में।

३. श्रावण-शुक्ल त्रयोदशी गुरुवार ११।८।२०११ को—

मीन लग्न ८:२४ से ९:५१ तक रात्रि।

गृहारम्भ-मुहूर्त्त

१. अगहन-शुक्ल सप्तमी गुरुवार १।१२।२०११ को—

कुम्भ लग्न ११:४९ से १:१९ तक दिन में।

२. अगहन-शुक्ल-पूर्णिमा शनिवार १०।१२।२०११ को—

११:९ से १२:४० तक दिन में।

वेदान्ती स्वामी का वैकुण्ठगमन

अकबरपुर, काशी, अयोध्या, विशम्भरपुर आदि अनेक स्थानों के स्थानाधीश अनन्तश्री विभूषित स्वामी धरणीधराचार्य (वेदान्ती जी) महाराज की अवस्था वैकुण्ठगमन काल (१२.०५.२०११) के समय १०१ वर्ष की थी। आपने व्याकरण एवं वेदान्त शास्त्र का गहन अध्ययन किया था, इसी कारण आपका नाम वेदान्ती स्वामी हो गया। अध्ययन काल तथा तरेत से प्रस्थान करने के उपरान्त आपने कुछ काल तक सरौती स्वामी जी (परमाचार्य जी) के सान्निध्य में अध्यापन कार्य कर अनेक स्नातकों को निष्णात बनाया। तदुपरान्त परमाचार्य जी महाराज के निर्देशानुसार आपने अकबरपुर को अपना केन्द्र बनाकर धर्मप्रचार करते हुए संस्कृत विद्या का प्रचार-प्रसार हेतु अनेक संस्कृत विद्यालयों/महाविद्यालयों का निर्माण किया। जिसमें वासुदेवाचार्य संस्कृत महा-विद्यालय, अकबरपुर, सोनामती संस्कृत उच्चतर विद्यालय, विशम्भरपुर, वासुदेवाचार्य संस्कृत महाविद्यालय, नगवा-लंका, वाराणसी प्रमुख है। आप पूर्ण विरक्त सन्त थे।

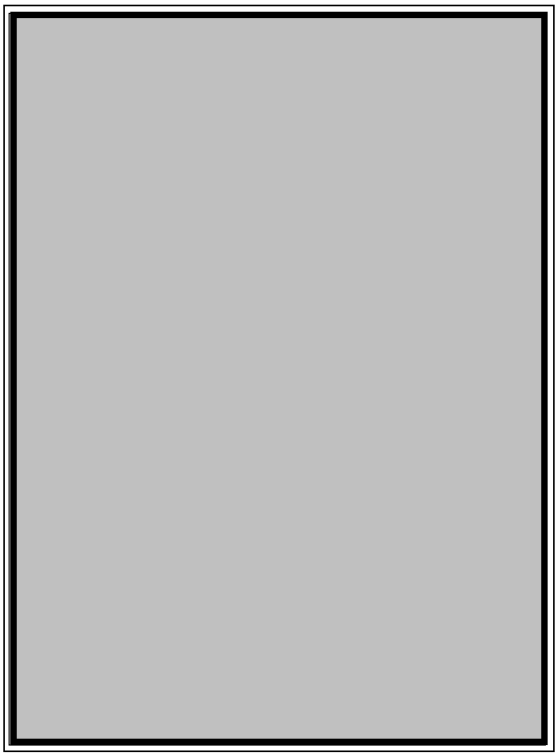

आप सादगीपूर्ण जीवन यापन करते हुए अत्यधिक परिश्रमी थे। आप त्याग के प्रतिमूर्ति थे। भौतिक सुविधा की आकाङ्क्षा आज के परिप्रेक्ष्य में भी इन्हें नहीं प्रभावित कर सकी थी। जहाँ तक सम्भव हुआ पदयात्रा से ही काम करते थे। अत्यधिक दूरी अथवा अति आवश्यक होने पर ही ट्रेन, बस आदि की सवारी करना इन्हें स्वीकार होता था अन्यथा नहीं। आपकी गणना वैष्णवपरम्परा के ज्ञानी सन्तों में की जाती है। इनकी लोकप्रियता का अन्दाजा यही से लगाया जा सकता है कि आपके वैकुण्ठोत्सव में देश के हर क्षेत्र से सन्त महात्मा उपस्थित हुए। सन्तों का एक विशाल सम्मेलन का स्वरूप वैकुण्ठोत्सव के दिन अकबरपुर में उपस्थित हो गया।

आपका द्वादशाह जन्यकृत्य यथाक्रम— नारायण-बलि, अर्चिरादि मार्गस्थ देवश्राद्ध (गृहस्थों के लिए जो चौदहमासिक या एकोदिष्ट होता है, उसके स्थान पर विरक्तों के लिए किया जाने वाला कृत्य) तथा सपिण्डीकरण का कार्य जगद्गुरु अनन्तश्री विभूषित स्वामी धरणीधराचार्य जी महाराज, तरेत-पाली, अनन्तश्री विभूषित स्वामी रङ्गरामानुजाचार्य जी महाराज, सरौती-हुलासगंज तथा अनन्तश्री स्वामी रामप्रपन्नाचार्य जी महाराज, कतरासीन स्थानाधीश के सान्निध्य में दर्जनों सन्त-महान्त तथा विद्वानों के साथ अनन्तश्री विभूषित स्वामी हरेरामाचार्य जी महाराज के आचार्यत्व में पूर्ण शास्त्रीय विधि के अनुसार सम्पन्न कराया गया। ०००००